ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ॐ

वृन्दाविपिनविहारिणे नमः

ज्ञाननलिनविकाशिने नमः

अथ

श्रीमद्भगवद्गीता

उपासनाख्ये द्वितीयषट्के

* एकादशोऽध्यायः *

ॐ प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

(ऋ० मं० १ अ० २१ सू० १५४ मं० २)
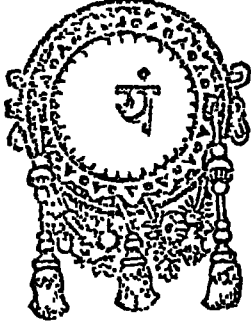
ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै
र्वेदैः सांगपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेनमनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥

अजन्मा सर्वेषामधिपतिरमेयोपि जगता-
मधिष्ठाय स्वीयां प्रकृतिमिव देही स्फुरति यः ।
विनष्टं कालेन द्विविधमघृतं धर्मसनघम्
पुनः प्राहेशं तं विमलशुभदं नौमि परमम् ॥

अहा ! आज आकाशमें सूर्य्य , चन्द्र तथा तारागण एकही समय क्यों उदय होरहे हैं ? आज वायु क्यों अद्भुतरूपसे लहराती हुई बहरही है ? जिधर देखता हूं उधरहीसे एक घोर अन्धड झक्कड तथा झंझावात (तूफान) से समां बंधाहुआ देखपडता है ऐसा बोध होता है, कि उनचासों पवन एक संग मिलकर न जाने किस ओर चले जारहे हैं ? आज समुद्रमें बडवानल क्यों भडक उठा है ? अग्नि-होत्रियोंके अग्निदेव आपसे आप कुण्डोंमें क्यों प्रज्वलित होगये है ? दशों दिशाओंमें ज्योति ही ज्योति क्यों दीख पडती है ? नद नदियोंके जल लहरें लेलेकर और उछल२ कर आकाशकी ओर क्यों जानेकी इच्छा कररहे हैं ? आज पृथ्वी क्यों डगमगा रही है ? पुष्पवाटिका-ओंके पुष्पोंकी कलियां चटक चटक कर क्यों आपसेआप कुसु-मय खिलरही हैं ? आज विश्वमात्र (पृथ्वीभर) के वृक्ष अपने फूल

फलोंको लिये हुए किसको अर्पण करनेके लिये तयार हैं ? आज इन्द्रके नन्दनवनमें कल्पवृक्ष सर्वप्रकारकी ऋद्धि सिद्धियोंको लिये क्यों खडा है ? आज ब्रह्मा अपने पद्मासनको छोड क्यों उठ खडे हुए हैं ? शिवकी समाधि क्यों टूटगई है ? इन्द्रदेव सहस्रनेत्र खोलेहुए एक ओर टकटकी लगाये क्या देख रहे हैं ? आज अप्सराएं अपनी अँगुलियोंको दाँतोंसे क्यों दबाये हुई हैं ? आज योगी, यति, तपस्वी, ऋषि, मुनि इत्यादि दोनों हाथोंको जोडे किसे आवाहन कर-रहे हैं ? हो न हो आज कोई अद्भुत घटना होनेवाली देख पडती है ।

कम है वह देखो ! महाभारतकी रणभूमिमें अर्जुनकी ओर देखो ! जहां अर्जुन सच्चिदानन्द आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रसे अपनी सर्व-प्रकारकी विभूतियोंसे युक्त अपने विराट्स्वरूपके दर्शन करानेकी प्रार्थना कररहा है अनुमान होता है, कि अब थोडीही देरमें भगवान् अपने विश्वरूपको प्रकटकर अर्जुनकी अभिलाषा पूर्ण करेंगे ।

चलो ! देखो ! हमलोग भी उसी रथके समीप उपस्थित होकर इधर महाभारतके युद्धकोभी देखें और उधर जगदभिराम घनश्यामके अद्भुत विराट्स्वरूपकाभी दर्शन करें कहावत है, कि ' एकपन्थ दो काज ' किसीने कहा है, कि ' चलो सखी तहँ जाइये जहां बसें ब्रजराज । दधि बेचतमें हरि मिले एक पन्थ दो काज "

गुणमन्दिर सुन्दर दामोदर भवजलधिमथनमन्दर आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्दने दशम अध्यायमें अपनी विभूतियोंका वर्णन किया और अब अर्जुनकी प्रार्थना करनेसे उनहीं विभूतियोंके सहित अपने

विराट्स्वरूपका दर्शन करावेंगे। इतना पढकर पाठकोंको परम विस्मय हुआ होगा और चित्तमें घोर शंका उत्पन्न होनेका अंकुर उदय हो-आया होगा तथा वे अपने मनमें यों विचार करते होंगे, कि पहलेसे तो इस गीताशास्त्रके प्रकरणकी यों रचना कीगयी है, कि इसके छः२ अध्यायोंके तीन षट्क किये गये हैं और बार बार यही दिखलाया-गया है, कि प्रथम षट्कमें भगवानने कर्मकाण्ड, दूसरे षट्कमें (७–से १२ तक) उपासना और तीसरे षट्कमें (१३–से १८ तक) ज्ञानका वर्णन किया है। इस नियमके अनुसार भगवान्को इन (१० और ११) दोनों अध्यायोंमें भी केवल उपासनाका ही भेद वर्णन करना चाहिये था तो भगवान्ने क्यों अपनी विभूतियोंका वर्णन किया? जिस कारणसे उन्हें अर्जुनके प्रति अपने विराट्स्व-रूपको दिखलानेकी आवश्यकताहुई? यह तो नियम और प्रकरण दोनोंके विरुद्ध है और असंगत है भगवानने ऐसा क्यों किया?

प्रिय पाठको! यहां शंकाका तनकभी स्थान नहीं है भगवान इन दोनों अध्यायोंमें भी उपासनाकाही अंग वर्णन कररहे हैं जो विद्वज्जन शास्त्रोंके मर्मोंको तथा भगवद्वाक्यके रहस्योंको पूर्णरूपसे समझ रहे हैं वा समझनेकी शक्ति रखते हैं वे तो अवश्य जानते होंगे, कि अधिकारीकी अपेक्षासे उपासनाके अनेक भेद हैं विश्वमात्रके उपासकोंके लिये उपासना एकही नहीं वरु इस उपासना की भी चार श्रेणियां हैं चारोंके चार प्रकारके अधिकारी हैं पर ये चारों एक ही स्थानके पहुंचने वाले हैं चार श्रेणियोंसे उनके चार स्थान वा चार प्रकारके उपास्य हैं ऐसा नहीं समझना चाहिये। इसी

लिये भगवान्की विभूतियों और विराट्मूर्त्तिके दर्शन करानेकी परम आवश्यकता है। क्योंकि न जाने अपनी-अपनी रुचि अनुसार भगवान्की किस विभूति और किस मूर्तिकी ओर उपासकके चित्तका आकर्षण होजावेगा ? क्योंकि उपासनाके लिये उपास्यके गुण, रूप, लीला और धामके जाननेकी आवश्यकता है इसलिये भगवानने इन दोनों अध्यायोंमें पहले अपने गुण और रूपको अर्जुनके प्रति दिखलाया है क्योंकि उपासकोंको उपासना आरंभ करते ही इन दोनोंकी आवश्यकता पड़ती है इसलिये उपासनाके प्रकरणके अन्तर्गत भगवान्का अपनी विभूतियोंका वर्णन करना तथा अपने विराट्रूपका दर्शन कराना असंगत तथा प्रकरण विरुद्ध नहीं है अतएव आशा है, कि विद्वान किसी प्रकारकी शंका नहीं करेंगे।

अर्जुन उवाच—

मू०— मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥

पदच्छेदः— [हे भगवन् !] मदनुग्रहाय (ममशोकनिवृत्त्युपकाराय) त्वया, यत् परमम् (अतिशयं परमार्थनिष्ठं तथा शोकमोहनिवर्त्तकत्त्वेनोत्कृष्टम्) गुह्यम् (गोप्यम् यस्मैकस्मैचिद्वक्तुमनर्हम्) अध्यात्मसंज्ञितम् (आत्मानात्मविवेकविषयम्) वचः (वाक्यम्) उक्तम् (कथितम्) तेन, अयं, मम, मोहः (अविवेकबुद्धिः) विगतः (अपगतः । विनष्टः) ॥ १ ॥

पदार्थः— अब अर्जुन बोला हे भगवन् ! (मदनुग्रहाय) मेरे उपकारकेलिये (त्वया) आपके द्वारा (यत्, परमम्) जो परमश्रेष्ठ परमात्मनिष्ठ (गुह्यम्) अत्यन्तगोपनीय (अध्यात्मसंज्ञितम्) आत्मा अनात्माके विवेक करनेके विषय (वचः) वचन (उक्तम्) कहागया (तेन) तिससे (अयं, मम) यह मेरा (मोहः) अज्ञान (विगतः) नष्ट होगया ॥ १ ॥

भावार्थः— अर्जुनको भगवानने दशवें अध्यायमें जो अपनी नाना प्रकारकी विभूतियोंका परिचय करातेहुए अन्तमें यह कहा, कि " विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् " मैं इस सम्पूर्ण जगतको अपनी विभूतियोंके महान् सागरस्वरूपके एक अंशसे अर्थात् एक बूंदसे धारणकर स्थित हूं यह सुनकर अर्जुनके हृदयमें जो अपने बान्धवोंके बध करनेका शोक वा मोह होरेहा था वह तो नष्ट होगया और एकाएक भगवत्‌के ऐसे महान् स्वरूपके दर्शन करनेकी अभिलाषा होआयी अर्थात् किस प्रकार भगवत्‌ने इस सम्पूर्ण जगतको अपने एक अंशमें धारण करेरखा है ऐसे स्वरूपके देखनेकी इच्छा उत्पन्न होआयी । भगवान्‌से अपने विश्वधारण करनेवाले स्वरूपके दर्शन करानेकी प्रार्थना करताहुआ कहता है, कि [मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्] हे भगवन् ! केवल मुझपर अनुग्रह करनेके तात्पर्य्यसे अर्थात् मुझको जो अपने बान्धवोंको सम्मुख देखकर इस युद्धके सम्पादनमें परम शोक उत्पन्न हुआ था उसके दूर करनेके लिये जो यह रहस्य जिसको बडे २ ज्ञानी तथा

ऋषि महर्षियोंने अनधिकारियोंके प्रति गुप्त रखा किसीसे भी प्रकट नहीं किया उसे आपने मुझ दीन अर्जुनपर प्रकट किया है ॥ १ ॥

अर्जुनके कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि जो वार्ता अध्यात्म सहित है अर्थात जिसमें आत्मा और अनात्माके जाननेके रहस्य भरेहुए हैं जिसे केवल वे ही प्राणी समझ सकते हैं जो जिज्ञासु हैं मुमुक्षु हैं, जिनकी प्रज्ञा प्रतिष्ठिता है, जो द्वन्द्वातीत हैं, विमत्सर हैं, सिद्ध, असिद्ध, मान, अपमान, जय और अजयमें समबुद्धि हैं, कामक्रोधविमुक्त हैं, मोक्षपरायण हैं, अनन्यचेतस हैं अर्थात् जो भगवत्स्वरूपके अतिरिक्त क्षणमात्र भी किसी अन्य विषयकी ओर चित्त को नहीं लेजाते ऐसे गुणोंसे युक्त प्राणीको इस गुप्त विद्याको कहना चाहिये। पर हे भगवन ! यद्यपि मुझमें इन गुणोंमेंसे एक गुण भी नहीं पायाजाता तथापि तुमने कृपा करके मुझे इस रहस्यका उपदेश किया और अपने मुखसे नवें अध्यायके आरम्भमें यह कहा, कि "इदन्तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे" अर्थात मैं तुझ असूया-दोषरहित अर्जुनके लिये यह रहस्य कहूंगा सो हे भगवन् ! जैसी तुमने प्रतिज्ञा की वैसी ही मेरे ऊपर कृपाकर यह गुप्त आत्मसंज्ञित वार्ता मुझसे कही इसलिये हे भगवन्! [यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम] जो वार्ता तुमने मुझसे कही उससे मेरा मोह नाश को प्राप्त हुआ।

अर्जुनके कहनेका तात्पर्य यह है, कि यद्यपि इस आत्मसंज्ञित गुप्त रहस्यका मैं अधिकारी नहीं था तथापि दयासागरने मुझे परम

दुखिया देख अपनी ओरसे दया करके इस आत्म अनात्मके विचारसे भराहुआ गुप्त वचन मेरे लिये कथन किया ॥ १ ॥

भगवान्ने कौन-कौनसी बातीएं कहीं सो अर्जुन अगले श्लोक में कहता है—

मू०--- भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥
॥ २ ॥

पदच्छेदः-- [हे] कमलपत्राक्ष ! (कमलस्य पत्रे इव सुप्रसन्ने विशाले परममनोरमे अक्षिणी नेत्रे यस्य सः तत्सम्बुद्धौ हे कमलपत्राक्ष !) भूतानाम् (आकाशादिकार्य्याणाम् तथा चराचराणाम) भवाप्ययौ (उत्पत्तिप्रलयौ) हि, त्वत्तः, मया (अर्जुनेन) विस्तरशः (पुनः-पुनः विस्तरेण) श्रुतौ, अव्ययम् (न विद्यते व्ययो नाशः यस्य तत् अव्ययम्) माहात्म्यम् (महदैश्वर्य्यम्) अपि, च [मया श्रुतम्] ॥ २ ॥

पदार्थः— (कमलपत्राक्ष !) हे कमलनयन ! (भूतानाम्) आकाशादि पञ्च भूतोंका तथा चराचर जीवोंका (भवाप्ययौ) उत्पत्ति और प्रलय (हि) निश्चयरूपसे (त्वत्तः) तुम्हारे द्वारा (मया) मुझसे (विस्तरशः) विस्ताररूपसे (श्रुतौ) सुनेगये तथा तुम्हारा (अव्ययम्) नाशरहित (माहात्म्यम्) परम ऐश्वर्य (अपि, च) भी मुझसे (श्रुतम्) सुनागया । अर्थात तुमने जो विस्तारपूर्वक भूतोंकी उत्पत्ति तथा अपने महान् ऐश्वर्योंको मुझसे कहा उनको मैंने पूर्णप्रकार ध्यान देकर श्रवण किया ॥ २ ॥

भावार्थ:— अब अर्जुन भगवान्‌के रूपके दर्शन करनेकी अभिलाषासे प्रेमपूर्वक भगवान्‌के सौन्दर्यका संकेत करताहुआ जो उनको (कमलपत्राक्ष) कहकर पुकारता है तिसके अनेक भाव हैं जो भक्तोंके प्रेमकी वृद्धि निमित्त यहां वर्णन करदिये जाते हैं—

प्रथम भाव— जैसे सरोवरोंमें खिलेहुए कमलपत्र प्राणियोंके चित्तको प्रसन्न करते हैं और अपनी-अपनी अरुणाईसे परम मनोहर देखपडते हैं इसी प्रकार भगवान्‌के अरुण नेत्र भी परम सुहावने और मनके हरण करनेवाले देखपडते हैं। अर्थात् जैसे कमलपत्रकी तिरछौंही नोकीलीसी काट जडमें कुछ वर्तुलाकार होकर दोनों ओरसे तिरछी होतीहुई एक नोकीलीसी बनी हुई देखपडती है इसी प्रकार भगवान्‌के नेत्रोंकी तिरछौंही काट बनती हुई जिसके हृदयमें जा चुभी वह रूपमकरन्दकी गंध लेने वाला भगवत्प्रेममें अहर्निश मग्न होगया।

द्वितीय भाव— जैसे कमलपत्र एक ओर उठेहुएसे ऊंचे रहते हैं इसी प्रकार भगवान्‌के सुन्दर नेत्र भी कुछ ऊपरको उठेहुए और ऊंचे हैं क्योंकि कमलपत्रको छोडकर अन्य किसी पत्रमें ऐसी विचित्रता नहीं पायी जाती।

तृतीय भाव— यदि शंका हो, कि श्यामसुन्दरके तो अंग २ नाना प्रकारके सौन्दर्यसे भरेहुए हैं फिर अर्जुनने अन्य किसी अंगका नाम न लेकर केवल नेत्रहीकी शोभा क्यों वर्णन की ? तो उत्तर इसका यह है, कि शरीरमें जितने अंग हैं सब शोभायमान तो हैं पर चेतनताका सूचन करने वाला केवल एक नेत्र ही है। अन्य सब अंग जडवत् शान्त पडे रहते हैं उनमें हिलने डोलनेकी शक्ति नहीं है। जैसे केश, कान,

नाक, कपोल, भ्रू, अधरे, चिबुक, ग्रीव, हृदय, कटि इत्यादि । यदि इन्हींके समान नेत्र भी निश्चेष्ट और गतिहीन होजावें तो प्राणी मृतक समझाजावेगा । केवल दोनों नेत्र ही शरीरमें चल हैं । नेत्रोंसे ही प्राणियोंके हृदयकी गति जानी जाती है और जीवित रहनेका संकेत प्राप्त होता है । करुणा, दया, क्रोध, प्रसन्नता, अप्रसन्नता और प्रेम इत्यादिकी गति नेत्रसेही लखपडती है कान, नाक, केश इत्यादिसे मनोगति लखनेमें नहीं आती । तथा अनेक प्रकारके अद्भुत २ दृश्य इन्हीं नेत्रोंसे देखनेमें आते हैं अतएव अर्जुनने भगवान्के कमल नयनोंकी अपूर्व शोभाका वर्णन किया ।

जब किसीको किसीसे प्रेम होता है तो यही कहा जाता है, कि अमुक २ प्राणियोंकी आंखें परस्पर लडगयी हैं, कान लडगये अथवा नाक लडगयी ऐसा नहीं कहा जाता । फिर ऐसा भी कहते हैं, कि अमुक प्राणीके नेत्रोंमें अमुकके नयन प्रवेश करगये हैं । जैसे किसी प्रेमीका वचन है, कि "पडी कंकडी नैनमें नैन भये बेचैन । वे नैना कैसे जिवैं जिन नैननमें नैन" । इसी कारण अर्जुनने सब अंगोंको छोड पहले पहल भगवान्के नेत्रहीकी स्तुतिकी ।

चौथा भाव— जैसे कमलपत्र दिवसके आगमनसे खिलजाता है और रात्रिके आगमनसे संपुटित होजाता है अर्थात् कमलके पत्रोंका खिलना दिवसका आगमन और संपुटित होना रात्रिका आगमन सूचित करता है इसी प्रकार भगवत्के नेत्र खुलनेसे सृष्टिरूप दिवसका आगमन और संपुटित होनेसे प्रलयरूप रात्रिका आगमन सूचित करते हैं ।

पांचवां भाव— अर्जुन अपने मनहीमन भयसे कम्पित होरहा है, कि मैं भगवान् त्रिलोकीनाथके सम्मुख, कि जिनके भयसे तीनों लोक कम्पायमान होरहे हैं ढिठाईकर रूप दिखला देनेकी प्रार्थना कैसे करूं। क्योंकि लक्ष्मी जो साथ२ निवास करती है सनत्कुमार, नारद, च्यवन, अंगिरा, वशिष्ठ, गोकुलनिवासी गोप, गोपी, नन्द, यशोदा, प्रह्लाद, ध्रुव इत्यादि जो भगवान्के परम प्रिय होचुके हैं इनमेंसे भी किसीको ऐसे गुप्त स्वरूपको प्रकट कर दिखलानेके लिये प्रार्थना करनेका साहस न पडा फिर मुझमें क्या विशेषता है, कि मैं आज इस घोर आपत्तिके समय श्रीआनन्दकन्दसे गुप्त विश्वरूपको दिखलानेकी प्रार्थना करूं। भगवान् मेरी ऐसी ढिठाई देख कहीं कुपित न होजावें इसी कारण भगवानके नेत्रोंकी ओर देखने लगा और विचारने लगा, कि भगवान् जो अन्तर्यामी सबके हृदयकी गति जाननेवाले हैं अवश्य मेरे हृदयकी गति भी जानगये होंगे। एवम्प्रकार भगवत्के नेत्रोंकी ओर देखते ही समझ गया, कि इस समय भगवान् बडी कृपादृष्टिसे मेरी ओर देखरहे हैं। जैसे कमलपत्र सूर्य निकलते ही बडी प्रसन्नताको सूचित करता हुआ खिलखिलाकरे हंस पडता है ऐसे ही भगवतके नेत्र मेरी ओर बडी प्रसन्नताको प्रकट कररहे हैं। ऐसा विश्वास होता है, कि भगवान् मेरी अभिलाषा अवश्य पूर्ण करेंगे इसीलिये अर्जुन अपनी दृष्टिको भगवान्की दृष्टिसे क्षणमात्र मिलाकर प्रेमसे प्रफुल्लित हो झट ' कमलपत्राक्ष ' कहकर सम्बोधन करता है।

छठाभाव— अर्जुन मनही मन यह विचाररहा है, कि भगवान् जो अपने मुखारविन्दसे ऐसा कहचुके हैं, कि " यच्चापि सर्वभूतानां बीजं

तदहमर्जुन । न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ”
(अ० १० श्लो० ३९) अर्थात् विश्वमात्रका बीज मैं ही हूं मेरे
विना कुछभी नहीं है । फिर कहा है, कि “ विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमे-
कांशेन स्थितो जगत् ” (अ० १० श्लो० ४२) अर्थात् मैं अपनी
महान् अनन्त विभूतियोंके एक अत्यन्त छोटे अंशमें इस सम्पूर्ण
जगत्को धारणकर स्थितहूं । एवम्प्रकार भगवानके वचनोंको सुन
अर्जुनको अभिलाषा उत्पन्न होआयी है, कि जिन महान् ऐश्वर्य्योंके
विषय भगवानने मुझसे स्वयं कहा है और मैंने केवल श्रवणगोचरही
किया है तिनके स्वरूपोंका तो इन नेत्रोंसे दर्शन नहीं किया और
विना उस रूपके देखे चित्तको चैन नहीं है यदि नहीं देखूँगा तो इसी
समय मेरे शरीरकी दुर्दशा होपडेगी । भगवान् अर्जुनके चित्तकी ऐसी
दशा जान जैसे कमलोंकी विकसित छटासे प्रसन्नता प्रगट होती है
ऐसे अन्तर्यामी अपने प्रफुल्लित कमलनेत्रोंसे अर्जुनकी ओर देख अपनी
प्रसन्नता प्रगट करने लगे । मानों नेत्रोंकी चालसे अर्जुनके हृदयमें
ऐसा सूचित करदिया, कि जो कुछ तेरी अभिलाषा है उसे मैं अवश्य
पूर्ण करूंगा इसलिये अर्जुन नेत्रोंकी ऐसी प्रसन्नमयी छटा देखकर झट
कमलपत्राक्ष कहपडा ।

सातवांभाव— कमलपत्राक्ष कहनेका यह है, कि ‘कः’
कहिये आत्माको इसलिये (कः) जो आत्मा तिस आत्माको (अलति)
भूषित करता है अर्थात् ज्ञान करके जो सुशोभित करता है उसे कहिये
‘ कमल ’ सो कमल अर्थात् आत्मज्ञान जिस कागदपर लिखाजावे
उसे कहिये ‘ कमलपत्र ’ और पत्र शब्दका अर्थ यह है, कि (पात्यते

स्थानात् स्थानान्तरं समाचारोऽनेनेति पत्नम) एक स्थानसे दूसरे स्थानको जो समाचार लेजावे उसे कहिये पत्र। सो भगवान्के जो नेत्र हैं वे मानो आत्मज्ञानके पत्न हैं जो ज्ञानतत्त्वरूप समाचारोंको भक्तोंके हृदयमें लेजाते हैं अर्थात् भगवान् जिसकी ओर एकबार भी अवलोकन करते हैं उसके हृदयमें संपूर्ण आत्मज्ञानका प्रकाश होजाता है मानो वह प्राणी भगवत्के नेत्रसे ही सर्व निगमागमादिको पढलेता है सो अर्जुनके लिये तो ये नेत्र इस युद्धके समय आत्मज्ञानके पत्न ही होरहे हैं। इसी कारण भगवान्को अर्जुनका कमलपत्राक्ष कहकर पुकारना सांगोपांग उचित है।

भगवान्के नेत्रोंकी शोभा उक्त प्रकार सूचित करताहुआ अर्जुन कैसे बोलउठा, कि [**भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया । त्वत्तः कमलपत्राक्ष !**] हे कमलपत्राक्ष ! मैंने भूतोंकी उत्पत्ति और विनाश दोनों विस्तारपूर्वक तुमसे सुने। क्योंकि हे जगत्-सुन्दर! तुमने मुझे अपना प्रिय सखा जानकर मुझसे कुछ भी गुप्त नहीं रखा। जो-जो वार्त्ताएं मैंने तुमसे पूछीं तुमने उन्हें विलग-विलग कर पुनः पुनः बडी श्रद्धा और रुचिसे मुझे सुनादी। जैसे धुनेरा रुईको तनक-तनक कर बिलग-बिलग धुनडालता है ऐसे हे भगवन ! तुमने प्रत्येक विषयोंको विलग-विलग धुन-धुनकर मुझे सुनादिया और मैंने पूर्णप्रकार ध्यान देकर एकाग्रचित्त हो श्रवण किया है। हे भगवन ! जैसे सर्वसाधारण किसी उपदेशको श्रवण कर इस कानसे सुन दूसरे कानसे निकाल देते हैं ऐसा मैंने नहीं किया। हे केशव ! मुझे तो तुम्हारे वचन एक-एक कर स्मरण हैं और वे मेरे हृदयमें ऐसे चुभगये हैं, कि युग-युगान्तरमें भी निकाले न निकलेंगे। तुमने जो मुझे "न जायते म्रियते

वा" तथा "नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः" (देखो अ० २ श्लो० २०, २३) कहकर आत्माकी नित्यता तथा अविनाशित्व बतलाया फिर " स्वधर्ममपि चावेक्ष्य " तथा " सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ ! " (देखो अ० २ श्लो० ३१, ३२) कहकर क्षत्रियोंके परम धर्मका उपदेश किया फिर " योगस्थः कुरु कर्माणि " संगं त्यक्त्वा धनंजय ! " कहकर मुझे निष्कामकर्मोंके सम्पादन करनेकी आज्ञा दी फिर जब मैंने तुमसे यह पूछा, कि ' स्थितप्रज्ञस्य का भाषा ' (देखो अ० २ श्लो० ५४) तब तुमने मुझे " प्रजहाति यदा कामान् " इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः " (देखो अ० २ श्लो० ५५से ५८ तक) इत्यादि वचनोंको कहकर स्थितप्रज्ञोंका लक्षण उपदेश किया, फिर " ज्यायसी चेत कर्मणस्ते " (देखो अ० ३ श्लो० १) इस प्रश्नके पूछनेपर तुमने कर्म और सन्न्यासयोगका वर्णन विस्तारपूर्वक किया और जब दोनोंकी स्तुति सुनकर शंका हुई तो फिरे तुमसे पूछा, कि "सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगञ्च शंससि " (देखो अ० ५ श्लो० १) तब तुमने " सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति " तथा " यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानम् " फिर " ब्रह्मण्याधाय कर्माणि " और "विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे " (देखो अ० ५ श्लो० ४, ५, १०, १८) इन वचनोंको कहकर मुझे सांख्य और योगका अभेद दिखलाया और मेरी बुद्धि स्थिर करदी । फिर तुमने " अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा " " मत्तः परतरं नान्यत " " रसोऽहमप्सु " "बीजं मां सर्वभूतानाम् " (देखो अ० ७ श्लो० ६, ७, ८, ११, १८) इत्यादि वचनोंसे अपनी अतुल महिमा वर्णनकी ।

फिर हे भगवन्! तुमने जो मुझे अध्यात्म, अधिभूत और अधियज्ञका उपदेश किया (देखो अ० ८) तथा देवयान और पितृयान इत्यादि मार्गोंका उपदेश किया (देखो अ० ८ श्लो० २४ से २६ तक) और हे भगवन्! जो तुमने मुझे गुह्यतम राजविद्याका उपदेश किया (देखो अ० ९) फिर हे भगवन्! मेरे इस प्रश्नपर, कि " वक्तु-मर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः" तुम अपनी विभूतियोंको मुझे पूर्णरूपसे कहो तिसके उत्तरमें तुमने " अहमात्मा गुडाकेश " से " विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नम् " (अ० १० श्लो० २० से ४२ तक) इत्यादि वचनोंतक अपनी दिव्य विभूतियोंका उपदेश किया।

अब अर्जुन कहता है, कि [माहात्म्यमपि चाव्ययम्] तुमने अपने अव्यय माहात्म्यको अर्थात् अक्षय महा ऐश्वर्य्योंका वर्णन किया है सो मैंने विस्तारपूर्वक श्रवण किया।

शंका— भगवान्‌ने तो अपने मुखारविन्दसे कहा है, कि हे अर्जुन! मैंने अपने महान ऐश्वर्य्योंको तुझसे अत्यन्त संक्षिप्तकरके कहा है क्योंकि भगवान् अ० १० के अन्तमें अर्जुनसे कहचुके " एष तूद्देशतः प्रोक्तः " (अ० १० श्लो० ४०) अर्थात् मैंने अपनी विभूतियोंके विस्तारके कारण संक्षेपकरके तुझसे कहा और इस श्लोकमें अर्जुन कहता है, कि "श्रुतौ विस्तरशो मया" मैंने विस्तारपूर्वक सुना। तो कहनेवाला कहता है, कि मैंने संक्षेपसे कहा और सुनने वाला कहता है, कि मैंने विस्तारसे सुना ये दोनों बातें परस्पर टकराती हैं और इनसे गीताशास्त्रमें अन्योन्य विरोधका दोष लगता है ऐसा क्यों?

समाधान— भगवान्‌की दृष्टिमें तो अपना वचन संक्षिप्त ही है पर अर्जुनके लिये तो बहुतही विस्तार है क्योंकि गंगा और यमुना इत्यादि सरिताओंमें तो अमोघ जल राशिका प्रवाह चलरहा है पर प्यासेकी पिपासा (प्यास) शान्त करनेकेलिये तो उनमेंसे एक कमण्डल ही बहुत है । स्वातिकी वर्षामें तो अनगिनत बूंदें आकाशसे पृथ्वीपर पडती हैं पर चातक (पपीहा) के लिये तो दोचार बूंद ही बहुत हैं । फिर किसीने कहा है— " हस्तीमुखसे कण गिरै घटै न तासु अहार । सो लेचली पिपीलिका पालनको परिवार " अर्थात् हस्तीका जो मनों अन्न आहार है उसमेंसे एक कणमात्र जो उसके मुखसे गिरा तो उसे चींटी अपने परिवार पालन निमित्त लेचली ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जैसे हस्तीके मुखका एक कणमात्र अन्न चींटीके लिये बहुत है इसी प्रकार भगवतके मुखारविन्दसे एक कणमात्र ब्रह्मज्ञान अर्जुनके लिये बहुत है इसलिये अर्जुनने "विस्तरशो मया" कहा इसमें शंकाका कोई स्थान नहीं हैं ॥२॥

अब अर्जुन डरते २ बहुतही धीमी और दबीहुई जिह्वासे कहता है—

मू०— एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ! ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ! ॥ ३ ॥

पदच्छेदः— [हे] परमेश्वर ! (सर्वस्वामिन् !) यथा (येन प्रकारेण) आत्मानम् (स्वस्वरूपम) त्वम्, आत्थ (कथयसि) एतत् एवम् (यथातथम । नान्यथा) [हे] पुरुषोत्तम ! (जगन्नाथ ! पुरुषशार्दूल !) ते, ऐश्वरम् (ज्ञानैश्वर्य्यशक्तिबल-

वीर्य्यतेजोभिः सम्पन्नम्) रूपम् (अद्‌भुतस्वरूपम्) द्रष्टुम् (अव-लोकयितुम्) इच्छामि (अभिलषामि) ॥ ३ ॥

पदार्थः— [हे] (परमेश्वर !) त्रिलोकीके स्वामी (यथा) जिस प्रकार (आत्मानम्) अपनेको (त्वम्) तुम (आत्थ) कहते हो (एतत्, एवम्) यह सब ज्योंका त्यों यथातथ्य है तनक भी शंका करनेयोग्य नहीं है पर (पुरुषोत्तम !) हे जगन्नाथ ! पुरुषशार्दूल ! सर्वज्ञ ! (ते, ऐश्वरम्) तुम्हारे ज्ञान, ऐश्वर्य्य, शक्ति, वल, वीर्य और तेजसे सम्पन्न (रूपम) अद्‌भुतरूपको (द्रष्टुम्) देखनेकी (इच्छामि) मैं इच्छा रखता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थः— अब अर्जुन मारे संकोचके भयभीत हो अपनी ढिटाईपर लज्जित हो भगवतस्वरूपके दर्शन करनेकी इच्छासेकहता है, कि [**एवमेव यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर!**] हे परमेश्वर ! तुम अपनेको जिस प्रकार कहरहे हो वह ज्योंका त्यों अर्थात् यथा-तथ्य है ।

यहां **परमेश्वरे** कहकर जो अर्जुनने भगवान्‌का सम्बोधन किया इसका मुख्य अभिप्राय यह है, कि जो सबोंका ईश्वर होता हैं उसको किसी भी अन्य देवता देवीका भय नहीं । वह तो स्वतंत्र होता है जो चाहता है करता है । जैसे कोई महाराजाधिराज एक अत्यन्त दरिद्रको अपना सर्वस्व देदेवे तो अन्य कोई उसकी इच्छामें वाधा करनेवाला नहीं है । सो अर्जुन अपने मनमें विचार कररहा है, कि जिस रूपको भग-वान्‌ने बडे-बडे तपस्वियों और योगियोंको भी शीघ्र नहीं दिखलाया

तिस रूपको मुझ एक बालकके लिये जिसने अभीतक तपोयोगका नाम भी नहीं जाना, जिसने अपना बालकपन राज्यसुखमें बिताया और द्वादशवर्ष पर्यन्त घोर बनवासके दुःखमें नाना प्रकारके क्लेशोंको सहता रहा सो अब राज्यके लोभसे संग्राममें आपडा है तो ऐसे संस्कार-हीन अनधिकारीको विश्वम्भर यदि अपना विश्वरूप प्रकट करदिखावें तो उन्हें कौन रोकसता है ?

ऐसा विचार भगवान्को परमेश्वर शब्दकरके सम्बोधन करता हुआ कहता है, कि जो कुछ तुमने अपने विषय मेरे प्रति कहा अर्थात् सम्पूर्ण संसारका बीज होना तथा अपनी विभूतिके एक अंशमात्रमें सम्पूर्ण विश्वको धारण करना इत्यादि वर्णन किया सो सब यथार्थ हैं उनके सत्य होनेमें तनक भी सन्देह नहीं है। मुझको तो पूर्ण विश्वास है क्योंकि ये सब बातें तुमने अपने मुखारविन्दसे मेरे प्रति कही हैं और उसीके साथ यह भी मुझे कहा है, कि ' न मे विदुः सुरगणाः ' (अ० १० श्लो० २) मुझे कोई देव अथवा ऋषि, महर्षि यथार्थ-रूपसे नहीं जानता। इस वचनसे सिद्ध होता है, कि हे भगवन् ! तुम अपनेको आपही जानते हो। क्योंकि व्यासदेव आदि महर्षि जब राज-महलके समीप जाकर ज्ञानकी बातें सुनाया करते थे उस समय मैं इनकी बातोंको श्रद्धापूर्वक नहीं सुनता था और न इनके वचनोंका कुछ मुझपर प्रभाव ही पडता था। क्योंकि एक तो मैं बालक था दूसरे राज्यसुखमें भूला हुआ था पर अब इस युद्धके उपस्थित होनेसे मुझे दो आंखोंके स्थानमें चार आंखें होगयी हैं और सब बातें (लौलिक-पारलौकिक) जाननेकी चिन्ता होआयी है। अब मेरा धन्यभाग

है, कि ठीक समयपर मुझे तुम्हारे ऐसे गुरुदेवका लाभ हुआ है । सच है ! जब क्षेत्रमें बीज बोयाजाता है और वह कुछ ऊगकर पानीके लिये आकाशकी ओर देखता है तब उस समय जलकी वर्षा अधिक लाभदायक होती है सो हे भगवन्! इस स्थपर तुम्हारा यह उपदेश मुझे क्यों न लाभदायक होगा । हे जगदभिराम ! घनश्याम ! तुम्हारा कहना सांगोपांग यथार्थ है पर [द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम !] हे पुरुषोत्तम ! जिस प्रकारे तुमने अपने रूपका कथन किया उसे मैं अब उनही विभूतियोंके साथ देखनेकी इच्छा रखता हूं । सो कृपाकर मुझे अपने उस अद्भुतस्वरूपका दर्शन करादो ॥ ३ ॥

अब अर्जुन अपनी ढिठाईपर लज्जित हो विचारने लगा, कि मैंने आनन्दकन्दसे रूप दिखलानेकी प्रार्थना तो करदी है पर न जाने मैं उस रूपका तेज संभाल सकूंगा वा नहीं ? इसलिये मस्तक झुकाये भगवानसे फिर प्रार्थना करता है ।

मू०— मन्यसे यदि तच्छक्यं मयाद्रष्टुमिति प्रभो ।।

योगेश्वर! ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

पदच्छेदः— [हे] प्रभो ! (स्वामिन् !) यदि, तत्, मया (अर्जुनेन) द्रष्टुम् (चाक्षुषज्ञानविषयीकर्तुम्) शक्यम् (योग्यम्) इति, मन्यसे (चिन्तयसि) ततः (तर्हि) [हे] योगेश्वर ! (सर्वेषामणिमादिसिद्धिशालिनां योगिनामीश्वर !) त्वम्,

से, अव्ययम् (अक्षयम्) आत्मानम् (निजस्वरूपम्) दर्शय (दृष्टिगोचरं कारय) ॥ ४ ॥

पदार्थः— (प्रभो !) हे सबके स्वामी ! (यदि) जो (तत्) वह तुम्हारा स्वरूप (मया) मुझ अर्जुनसे (द्रष्टुं, शक्यम) देखेजाने योग्य है अर्थात् यह अर्जुनने तुम्हारे उस अद्भुत स्वरूपको देखनेकी शक्ति रखता है (इति, मन्यसे) ऐसा यदि तुम समझते हो (ततः) तब तो (योगेश्वर !) हे योगियोंके ईश्वर (त्वम्) तुम (मे) मेरे लिये (अव्ययम) नित्य अक्षय (आत्मानम्) अपने स्वरूपको (दर्शय) दिखलादो ॥ ४ ॥

भावार्थः— अब अर्जुन अपनी ढिठाईपर लज्जित हो मस्तक झुकाये विचार करने लगा, कि मैंने श्रीआनन्दकन्द ब्रजचन्दसे रूप दिखानेकी प्रार्थना तो करदी है पर न जाने उस रूपको देखनेमें मैं समर्थ हूं वा नहीं। सम्भव है, कि उस रूपका तेज मैं न संभाल सकूं। जैसे सूर्यदेव यदि आकाशसे उतरकर पृथ्वीपरे आजावें तो सारी पृथ्वी भस्म होजावेगी सब जीव-जन्तु तथा मनुष्य एकबारेगी नष्ट होजावेंगे। विद्युत् यदि आकाशसे पृथ्वीपर उतरकर किसीके घरमें चमक उठे तो उसकी आंखें फटजावेंगी। इसी प्रकार यदि मैं भगवत्स्वरूपके तेजके संभालनेयोग्य न रहूंगा तो मेरा सर्वनाश होजावेगा। इसी कारण भयभीत होकर बोलउठा, कि [**मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो !**] हे प्रभो ! हे जगत्-स्वामिन् ! संपूर्ण विश्वकी रक्षा करनेवाले यदि तुम मुझ अर्जुनको अपने उस विश्वरूपका तेज संभालने योग्य जानते हो अर्थात् जो

तुम ऐसा समझते हो, कि अर्जुन तुम्हारे स्वरूपके देखनेका अधिकारी है और देखसकता है तब तो [योगेश्वर! ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्] हे योगियोंके ईश्वर! अपने सर्वयोगसिद्धिसम्पन्न अविनाशी नित्य और निर्विकार स्वरूपको दिखादो।

यहां अर्जुनने प्रभो और योगेश्वर दो सम्बोधनोंसे भगवान् को पुकारा है इसका कारण यह है, कि जो सबोंका प्रभु अर्थात् स्वामी होता है उसे अपने शरणागतोंकी हानिलाभकी चिन्ता अवश्य होती है सो यदि भगवान् मेरी कुछ हानि देखेंगे तो अवश्य उस हानिको अपनी कृपादृष्टिसे मेटकर मुझे अपना स्वरूप दिखलावेंगे। स्वामियोंका यही विशेष धर्म है इसीलिये अर्जुनने "प्रभो" ऐसा शब्द प्रयोग किया है। फिर "* योगेश्वर" कहनेका भाव यह है, कि जो साधारण योगी होते हैं वे अपने योगबलसे निज शिष्योंको अद्भुत और आश्चर्य्यमयी लीला दिखादिया करते हैं। जैसे भरद्वाज योगीने जब अपने आश्रममें श्रीरघुकुलमणि रामचन्द्रके लघु भ्राता भरतजीकी पहुनाई की है तो उस समय उन्होंने अपनी सिद्धियोंके बलसे जितनी वस्तुओंकी आवश्यकता थी सब एकत्रकर दिखलायी। अर्थात् उस सघन वनको नन्दन वनके समान अनेक अपूर्व वैभवोंसे ऐसा सम्पन्न करदिया, कि अयोध्यानिवासी अवधके सारे विभव भूलगये। भला बताइयेतो सही, कि एक वनवासी योगीमें जब इतनी सिद्धिकी प्राप्ति देखीजाती है तब भगवान् जो साक्षात् योगियोंके शिरमौर,

* योगिनो योगास्तेषामीश्वरो योगेश्वरः (शंकरः)

योगियोंके ईश्वर योगेश्वर ही कहेजाते हैं क्या अर्जुनके मनकी गति जान अपनी योगमयी विभूतियोंको न दिखलासकेंगे ? अवश्य दिखलावेंगे। क्योंकि वे तो जगत्स्वामी हैं सबपर उनकी समान दया है जिस समय उनकी दया उमडती है तो जिसे जो नहीं देना चाहिये उसेभी वे वही देदेते हैं वे तो बिना मांगे भक्तोंको उनकी इच्छासे भी अधिक देदेते हैं। देखो! सुदामा ब्राह्मणको बिना मांगे स्वर्गके सदृश सम्पत्ति प्रदान करदी। क्या स्वप्नमें भी कभी सुदामाने भगवान से इतनी सम्पत्तिकी अभिलाषा की थी? कदापि नहीं। देखो! उत्तानपादका पुत्र ध्रुव जिसने केवल पिताकी गोदमें बैठतेहुए अपनी सौतेली माता द्वारा उठादिये जानेपर वनमें जा भगवान्‌की शरण ली तो उसे भगवान्‌ने अटल स्थान प्रदान किया जो आजतक ध्रुवलोकके नामसे प्रसिद्ध है।

देखो! विभीषणको रावणके रहते लंकाके अधिपति होनेका तिलक देदिया। इसी कारण तो शास्त्रोंने आपका नाम 'वाञ्छातिरिक्तप्रद' कहा अर्थात् जो इच्छासे भी अधिक देवे।

प्रिय पाठको! श्रीगोलोकबिहारी जगतहितकारीकी उदारताका उमडना मेघमालाके समान है, अर्थात् जब भगवत्‌का हृदयाकाश दयासे उमडने लगता है तब सर्वत्र एक समान सबोंके लिये विपुल दयाकी वारिधारा बहाकर अनगिनत प्राणियोंका शुष्क हृदयक्षेत्र बिनामांगे भर देता है। अरे! औरोंको तो कौन पूछे जो अपने सम्मुख आयेहुए विरोधियोंको दीन और अज्ञानी जानकर

मोक्षकी पदवी प्रदान करता है। जैसे पूतना राक्षसी जो स्तनमें विष लगाकर आपको मारने आयी तथा तृणावर्त्त, अघासुर, बकासुर, इत्यादि राक्षस जो आपके मारनेके तात्पर्यसे आये उन्हें भी आपने मुक्ति प्रदान की। शिशुपाल जिसने मध्य सभामें आनन्दकन्दको सैकडों गालियां सुनायी उसे भी मोक्षपद प्रदान किया। कहां तक कहूं कहांतक गिनाऊं धन्य है आपकी भक्तवत्सलता। क्यों न हो वाहरे भक्तवत्सल! आपकी भक्तवत्सलता ऐसी उमडी, कि यहां भी अर्जुनके प्रति यों कह पडे ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच।

मू०— पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

पदच्छेदः— [हे] पार्थ! (पृथापुत्रार्जुन!) नानाविधानि (अनेकप्रकाराणि) नानावर्णाकृतीनि (नीलपीतादिप्रकारा वर्णा विलक्षणास्तथाकृतयोऽवयवसंस्थानविशेषा येषां तानि) च, दिव्यानि (अलौकिकानि अप्राकृतानि) शतशः (अनेकशः) अथ, सहस्रशः (अपरिमितानि) मे, रूपाणि, पश्य (अवलोकय) ॥ ५ ॥

पदार्थः—(पार्थ!) हे पृथापुत्र अर्जुन! (नानाविधानि) अनेक प्रकारके (नानावर्णाकृतीनि) नीले, पीले, अरुण, श्वेत इत्यादि अनेक वर्ण, मोटीं, पतली अनेक आकृतिवाले (च,

दिव्यानि) और अलौकिक (शतशः) सैकडों (सहस्रशः) हजारों (मे रूपाणि) मेरे रूपोंको (पश्य) देख ! ॥ ५ ॥

भावार्थः-- अहा ! वह देखो ! श्रीभक्तवत्सल भगवान्‌की ओर देखो ! रथके ऊपर अर्जुन ऐसे अपने परमप्रिय भक्तको अति नम्रता तथा अपने विश्वरूपके दर्शनका परमअभिलाषी जान जब आपकी भक्तवत्सलता उमडी है तो कैसे झट बोलउठे हैं, कि [**पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः**] हे पृथाका पुत्र अर्जुन ! तू मेरे अद्भुत रूपोंको देख! वे सैकडों वरु हजारों हैं । एवम्प्रकार भगवान्‌ने अर्जुनसे ऐसा स्नेहमय वचन बोलकर जनादिया, कि जिन रूपोंको मैंने अपनी मैया कौशल्याको पक्वान्न खातेहुए और यशोदाको मिट्टी खातेहुए खेलकूदमें दिखलादिया उन रूपोंको तुझे क्यों न दिखलाऊंगा ।

यहां ' रूपाणि ' बहुवचन कहनेका तात्पर्य यही है, कि मेरा कोई एक विशेष स्वरूप अथवा विशेष प्रकारकी आंख, कान वा नाक नहीं हैं ये अनेक प्रकारके हैं। यदि कोई इनकी गणना किया चाहे तो नहीं करसक्ता क्योंकि " **शतशोऽथ सहस्रशः** " वे सैकडों वरु हजारों हैं अर्थात् अनगिनत हैं । तात्पर्य्य यह है, कि उस महापुरुषके रूपोंकी संख्या नहीं है असंख्य हैं । इसी वार्त्ताको वेदने पहलेही कहदिया है, कि " **ॐ सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्** " (पुरुषसूक्त मं० १) वह पुरुष सहस्रों अर्थात् अनगिनत शिरे तथा अनगिनत आँखें और अनगिनत पांववाला है । वे आंख, पांव इत्यादि भी ऐसे

नहीं हैं, कि एकही रंग वा एकही डौलवाले हों। जैसे एक बट वा अश्वत्थके वृक्षमें एकही प्रकारके फल अनेक होते हैं ऐसे नहीं हैं। कैसे हैं सो भगवान् स्वयं कहते हैं [नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च] अनेक प्रकारसे दिव्य और अनेक वर्णके हैं। अर्थात् भिन्नप्रकारकी ज्योतिसे प्रकाशित हैं और इनमें कोई नीला, कोई पीला, कोई काला, कोई लाल, कोई धानी, कोई आसमानी, कोई धूसर, कोई हरा, कोई पाटल (गुलाबी) और कोई धूम्रवर्ण हैं। फिर ऐसा नहीं, कि ये मेरे सब रूप रंग रंगरेजोंके रंगेहुए कपडोंके समान लौकिक रंगवाले हैं वरु ये तो रंग दिव्य हैं अर्थात् जैसे इन्द्रधनुषमें अथवा किसी स्फटिक काचमें नाना प्रकारके रंग देखेजाते हैं पर वे साधारण रंगोंके समान स्पर्शकरने योग्य नहीं होते केवल दृष्टि मात्रसे ही देखपडते हैं ऐसे वे मेरे रूप नानाविध दिव्य वर्णवाले हैं जो दृष्टिगोचर तो हैं पर यथार्थमें वे न स्पर्श योग्य हैं और न ग्रहण करेने योग्य हैं अर्थात् वे स्थूल नहीं सूक्ष्म हैं इसी कारण भगवान्ने अपने रूपोंको " दिव्यानि " कहा क्योंकि वे तेजही तेज हैं।

अब भगवान् कहते हैं, कि ऐसा मत समझो, कि इनमें केवल वर्णहीका भेद है वरु इनकी आकृति (डौल) में भी विचित्रता है कोई त्रिकोण तो कोई चौकोण, कोई पंचकोण तो कोई षट्कोण, कोई पीन (मोटा) तो कोई क्षीण, किसीमें एक भुजा है तो किसीमें दो हैं, किसीमें चार हैं तो किसीमें आठ हैं और किसीमें सहस्रों भुजाएं हैं तो किसीमें अनगिनत हैं एवम्प्रकार अनन्त मुखोंसे युक्त महा विकराल रूप धारण कियेहुए कोई हँसता खिलखिलाता है तो कोई चीखता चिल्लाता है, कोई क्रोधभरे

नेत्रोंसे तिलमिलारहा है तो कोई स्नेह और प्रेमभरे नेत्रोंसे देखरहा है, तो कोई तडक-भडककर घोर गर्जना कररहा है तो कोई उछल कूद-कर मधुर शब्दोंको अलापरहा है; कोई अत्यन्त सुन्दर है तो कोई अत्यन्त कुरूप है, कोई जगा है तो कोई सोया है, कोई शस्त्ररहित है तो कोई बिजलीके समान चमकनेवाले असंख्य शस्त्रोंसे युक्त है और कोई समाधिस्थ है तो कोई चञ्चल है एवम्प्रकार ये मेरे नाना प्रकारके रूप हैं अर्जुन ! तू जी भरके देख और अपनी अभिलाषा पूर्ण करले ॥५॥

अब भगवान् जिन विशेष देवता पितरोंको अपने रूपमें दिखलावेंगे उनका संकेत पहलेहीसे अर्जुनके प्रति संक्षेपरूपसे करदेते हैं ।

मू०—पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्य्याणि भारत ॥ ६ ॥

पदच्छेदः— [हे] भारत ! (भरतवंशप्रसूत !) आदित्यान् (१. विवस्वान्, २. अर्य्यमा, ३. पूषा, ४. त्वष्टा, ५. सविता, ६. भगः, ७. धाता, ८. विधाता, ९. वरुणः १०. मित्रः, ११. शक्रः १२. उरुक्रमः एतान् द्वादशादितिसुतान्) वसून् (धरः, ध्रुवः, सोमः, विष्णुः, अनिलः अनलः, प्रत्यूषः, प्रभासः, एतानष्टसंख्यकान् वसून्) रुद्रान् (अजः एकपात, अहिर्बुध्न्यः, पिनाकी, अपराजितः, त्र्यम्बकः, महेश्वरः, वृषाकपिः, शम्भुः, हरः, ईश्वरः एतान् एकादशरुद्रान्) अश्विनौ (द्वौ अश्विनीकुमारौ देववैद्यौ) तथा, मरुतः (एकोनपञ्चाशन्मरुद्गणान्) पश्य (अवलोकय) बहूनि (अनेकानि) अदृष्टपूर्वाणि (मनुष्यलोके त्वया अन्येन वा पूर्व

न दृष्टानि) आश्चर्याणि (अद्भुतानि । अभिनवरूपाणि) पश्य (विलोकय) ॥ ६ ॥

पदार्थः— (भारत !) हे भरतकुलशिरोमणि अर्जुन ! (आदित्यान्) द्वादश आदित्योंको (वसून्) आठों वसुओंको (रुद्रान्) एकादश रुद्रोंको (अश्विनौ) अश्विनीकुमार दोनों भाइयोंको (तथा) फिर (मरुतः) उनचासों वायुओंको (पश्य) अवलोकन कर फिर (बहूनि) इनसे इतर अनेकानेक (अदृष्टपूर्वाणि) पहले किसीसे नहीं देखेगये (आश्चर्याणि) परम आश्चर्यमय रूपोंको (पश्य) देख ॥ ६ ॥

भवार्थः— अब श्रीआनन्दकन्द नटनागर दयासागर प्रथम संक्षिप्त करके उन-उन देवताओंके नाम सुनारहे हैं जिनको थोडी ही देरमें अपने स्वरूपके अन्तर्गत अर्जुनको दिखलावेंगे । कारण यह है, कि जब कोई किसीको कुछ वस्तु दिखलाता है तब उस वस्तुके दिखलानेसे पहले यदि उसे कर्णगोचर करदेता है तो देखनेवाला सावधान होजाता है सो भगवानका आन्तरिक अभिप्राय यह है, कि जिन-जिन वस्तुओंको मैं दिखलाऊंगा उनसे अर्जुन सावधान होजावे ।

इसी कारण संक्षेपसे कहते हैं, कि [पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा] हे अर्जुन ! तू देख मैं तुझे बारहों सूर्योंको, आठों वसुओंको, ग्यारहों रुद्रोंको, दोनों भाई अश्विनीकुमारोंको तथा उनचासों वायुओंको एकसाथ एकरूपमें दिखलाता हूं अर्थात्

विवस्वान, अर्यमा, पूषा इत्यादि द्वादश आदित्योंको और (वसून्) धर, ध्रुव, सोम इत्यादि आठों वसुओंको और अज, एकपाद अहिर्बुध्न्य, इत्यादि एकादश रुद्रोंको तथा अश्विनी और कुमार दोनों भाइयोंको और ४६ वायुओंको देख। फिर इतनाही नहीं वरु [**बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत !**] हे भरतवंशमें उत्पन्न अर्जुन! उन बहुतेरे आश्चर्य्यमय रूपोंको भी जिनको इस लोकमें न तो तुमने और न किसी दूसरेने इससे पहले देखा तिन्हें भी तू देख।

अर्थात् हे भारत ! तू भरतकुलमें शिरोमणि परमपुरुषार्थी मेरा भक्त है इस कारण मैं इन सब रूपोंको दिखलाता हूं तू आनन्दपूर्वक स्थिरचित्त होकर देख।

भगवान्के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि हे भारत ! तू सचेत रह, देख कहीं घबड़ा न जाना। भयभीत होकर रथसे गिर न जाना और मारे भयके कहीं प्राण न छोडदेना। क्योंकि ये जो देवताओंके नाम तुझसे मैंने कहे हैं उन्हें तो तू मेरे एकरूपमें देखेगा, कि मेरी आँखोंके खुलनेसे ये बारहों आदित्य प्रकट होते हैं और मेरे पलकोंके संपुट लगनेसे ये बारहों नष्ट होजाते हैं फिर मेरे मुखके खुलनेसे जो वाष्प उत्पन्न होता है उससे अग्नि इत्यादि आठों वसु उत्पन्न होते हैं और मेरे अधरोंके सम्पुट लगजानेसे ये नष्ट होजाते हैं। इसी

टि०— द्वादश आदित्य तथा उनंचासों मरुतोंके नाम अ० १० श्लो० २१ में दियेहुए हैं देखलेना।

एकादश रुद्र तथा आठों वसुओंके नाम अ० १० श्लो० २४ में दिये हुए हैं देखलेना।

प्रकार मेरी भौंहोंके उठने और गिरनेसे ग्यारहों रुद्र उत्पन्न होते हैं और नष्ट होजाया करते हैं फिर मेरे चिबुकसे अमृत टपकता है जिससे अनेक अश्विनीकुमारोंकी उत्पत्ति होरही है तत्पश्चात् तू मेरे श्वासोच्छ्वाससे उनचासों मरुतोंको उत्पन्न होतेहुए देखेगा। सो इन सबोंको तो तू मेरे रूपके किसी एक अंशमें देखेगा इनसे इतर जो मेरे अनेक प्रकारके अनगित आकार हैं उनमें न जाने तू कैसे २ आश्चर्य्योंको शान्त, शृंगार, बीभत्स, रौद्र इत्यादि नवों रसोंमें देखेगा सो मैं तुझे इसी कारण चेत करादेता हूं, कि तू इनको देखकर व्याकुल और भयभीत न होजाना सचेत रहना तू वीर है, पराक्रमी है, साहसी है, दृढ है, शान्तचित्त है और परमचतुर है ॥ ६ ॥

अब भगवान् अर्जुनको यह सूचना करते हैं, कि तू मेरे रूपके अंशमें इतना ही नहीं देखेगा वरु सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी रचनाओंको देखेगा।

मू०— इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥

पदच्छेदः— [हे] गुडाकेश ! (जितनिद्र !) मम, इह (अस्मिन्) देहे (शरीरे) एकस्थम् (एकस्मिन् अवयवे नखाग्रमात्रे वर्त्तमानम्) सचराचरम् (चरन्ति ते चराः जंगमादयः न चरन्ति ते अचराः स्थावरादयः चराश्च अचराश्च चराचराः तैः चराचैरः सहितम्) कृत्स्नम् (सम्पूर्णम्) जगत् (त्रैलोक्यम्) च (तथा) यत्, अन्यत् (जगदाश्रयभूतं कारणस्वरूपमतीतमनागतं विप्रकृष्टं व्यवहितं स्थूलसूक्ष्मं तथा जयपराजयादिकम्) द्रष्टुम्, इच्छसि, अद्य (अधुनैव) पश्य (विलोकय) ॥ ७ ॥

पदार्थः— (गुडाकेश !) हे निद्राका जीतनेवाला अर्जुन ! (मम) मेरे (इह) इस (देहे) शरीरके (एकस्थम्) किसी एक स्थानमें स्थित (सचराचरम्) जंगम स्थावर भूतोंके सहित इस (कृत्स्नम्) सम्पूर्ण (जगत) त्रिलोकीको तथा (यत्) जो कुछ (अन्यच्च) दूसरेभी जगत्के कारण हों अथवा इस महाभारतयुद्धमें तू जीतेगा वा तेरे शत्रु जीतेंगे इन सब विषयोंको यदि (द्रष्टुम्) देखनेकी तू (इच्छसि) इच्छा करता है तो ले (अद्य) आजही अभी (पश्य) देखले ॥ ७ ॥

भावार्थः— अब भगवान सम्पूर्ण जगत्को अपने एक-एक रोममें दिखला देनेके तात्पर्यसे कहते हैं, कि [**इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्**] हे निद्राका जीतनेवाला अर्जुन ! तू एक-एक रोममें सम्पूर्ण संसारको चराचरके सहित एकठौरमें एकसाथ सिमटा हुआ आज अभी इसी समय देख। जैसे किसी सागरकी लहरमें सहस्रों बुदबुद बनते विनशते देखेजाते हैं जैसे कमलकी कर्णिकाके एक अंशमें परागके सहस्रों परमाणु उडते देख पडते हैं ऐसे तू मेरे शरीरके एक नखके अग्रभागमें अथवा मेरे एक-एक रोममें करोडों ब्रह्माण्डोंका उत्पन्न होना और विनाश होजाना देखले। फिर [**मम देहे गुडाकेश! यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि**] मेर इस शरीरमें तुझे जो कुछ अन्य वार्ताओंके भी देखनेकी इच्छा हो अर्थात् इस जगत्का मूलकारण, अहंकार, महत्तत्त्व प्रकृतिके तीनों गुणोंकी अभिव्यक्ति अथवा अन्य किसीसृष्टिकी विशेष अवस्था तथा उत्पत्ति प्रलय इत्यादि कैसे होतेरहते हैंदेखनेकी इच्छा हो तो मेरे प्यारे अर्जुन! अभीदेखले

देखनेमें आलस्य मत कर ! देख ! मैं तुझे उन सृष्टियोंको भी दिखाता हूं जो कईबार होकर विनश गयीं। फिर उनको भी दिखलाता हूं जो आगे बनकर विनश जानेवाली हैं। फिर मैं तुझे उन वस्तुओंको भी दिखलाता हूं जो अत्यन्त विस्ताररूपसे फैली हुई हैं तथा उनको भी दिखलाता हूं जो एकबारगी एक ठौर सिमटकर अन्त होरही हैं। फिर हे अर्जुन ! यदि तुझे महाभारत युद्धका वृत्तान्त देखना हो, कि तू जयको प्राप्त होगा अथवा भीष्म, द्रोण, दुर्योधन इत्यादि जय प्राप्त करेंगे तो उसे भी पूर्णरूपसे देखले ॥ ७ ॥

इतना कहकर भगवान् अन्तर्यामी जानगये, कि बिना दिव्यचक्षुओंके यह देखनेको समर्थ नहीं होगा अतएव उसे दिव्यचक्षु प्रदान करनेकी इच्छासे बोले—

मू०— न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

पदच्छेदः— अनेन (प्राकृतेन) स्वचक्षुषा (चर्मावृतेन नयनेन) एव, तु, माम् (मम महेश्वरस्य स्वरूपम्) द्रष्टुम्, न, शक्यसे * (शक्नोषि । शक्तो न भविष्यसि) [अतः] ते, दिव्यम् (दिव्यरूपदर्शनक्षममप्राकृतम्) चक्षुः (नयनम्) ददामि (यच्छामि) [तेनैव] मे, ऐश्वरम् (ईश्वरसम्बन्धिनम्) योगम्

* पदविकरणव्यत्यये आर्षः— भौवादिकस्यापि शक्नोतेर्दैवादिकः श्यन् छान्दस इति वा दिवादौ पाठोवेत्येव साम्प्रदायिकम् ।

(विश्वाश्रयत्वलक्षणसामर्थ्यम् । अघटनघटनासामर्थ्यातिशयम्) पश्य (विलोकय) ॥ ८ ॥

पदार्थः— हे अर्जुन ! तू (अनेन, स्वचक्षुषा) अपने इस प्राकृतिक चर्मचक्षुसे (एव, तु) निश्चय करके (माम्) मेरे दिव्यस्वरूपको (द्रष्टुम्) देखनेको (न, शक्यसे) समर्थ नहीं है अर्थात् इन नेत्रोंमे तू मुझे नहीं देखसकता इसलिये (ते) तेरे निमित्त (दिव्यम्) दिव्य (चक्षुः) नेत्रको (ददामि) देता हूं इस दिव्य नेत्रसे (मे) मेरे (ऐश्वरम्) परम ऐश्वर्ययुक्त (योगम्) संसारकी रचना करनेवाली अद्भुत योगकलाको (पश्य) देखले ॥८॥

भावार्थः— अर्जुन ! भगवानसे प्रथम ही कहचुका है, कि "**मन्यसे यदि तच्छक्यं मयाद्रष्टुमिति प्रभो**" हे प्रभो ! यदि तुम मुझको अपने रूपके देखने योग्य मानते हो तो मुझे अपना दिव्य रूप दिखलादो और 'प्रभो' ऐसा सम्बोधन करके यह भी सूचित करचुका है, कि जो प्रभु अर्थात् स्वामी होता है वह अपने असमर्थ सेवकको भी समर्थ बनालेता है । इसी कारण भगवान् अर्जुनको चर्म-चक्षुओंसे देखनेके लिये समर्थ न जानकर कृपापूर्वक कहते हैं, कि हे मेरे परम प्रिय अर्जुन ! देख [**न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा**] तू अपने इन स्वाभाविक मानुषी प्राकृत चर्मके नेत्रोंसे मुझे नहीं देखसकता यह निश्चय है । क्योंकि चर्मचक्षुओंसे केवल प्राकृत रचना देखीजाती है और जहांतक इन पंचभूतोंका विस्तार है उन्हींके देखने योग्य मैंने उतनी ही शक्ति चौरासी लक्ष

जीवोंके नेत्रोंमें प्रदान की है। कोई प्राणी इन चक्षुओंसे किसी दिव्य पदार्थको देखनेमें समर्थ नहीं होसकता परन्तु तू मेरा परम भक्त है इसलिये [दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्] आज मैं अपनी ओरसे तुझे वह दिव्य चक्षु प्रदान करता हूं जिसके द्वारा तू आज मेरी परम ऐश्वर्यमयी योगकलाकी अघटित घटनाको देख।

प्रिय पाठकोंके हृदयमें यहां अवश्य यह जाननेकी अभिलाषा उत्पन्न होआयी होगी, कि इन चर्मचक्षुओं और दिव्यचक्षुओंमें क्या अन्तर है ? इसलिये उनके कल्याणार्थ दोनों प्रकारकी चक्षुओंका भेद संक्षिप्तरीतिसे वर्णन कियाजाता है और कई प्रकारके दृष्टान्तोंसे समझाया जाता है।

अब जानना चाहिये, कि जैसे जन्मान्ध अर्थात् जन्मसे ही चक्षुहीन और आंखवालोंमें जितना अन्तर है उतनाही वरु उससे भी कुछ अधिक चर्मचक्षु और दिव्यचक्षुमें अन्तर है। जो प्राणी जन्मसे अन्धा है उसे इस सृष्टिकी न कुछ रचना, न कुछ शोभा और न इस सृष्टिकी विचित्र वस्तुओंके देखनेका कुछ सुख ही उसे अनुभव होता है इसलिये सृष्टिमात्र के देखनेके सुखसे वह बंचित रहता है। वह नहीं देख सकता, कि प्रातःकाल ऊषाके उदय होनेकी कैसी शोभा है फिर सूर्यदेव किस विचित्रताके साथ उदय होतेहुए तप्त स्वर्णके सदृश अपनी किरणोंको फैलातेहुए संसारियोंको अपने २ व्यवहारोंमें लगानेकी सहायता करते हैं। उनके निकलनेसे सरोवरोंमें कमल किस शोभासे खिलआते हैं ? आकाशमें सर्वत्र

उजियाली किस प्रकार छाजाती है ? चन्द्रदेव किस सजधजके साथ आकाशमें उदय होतेहुए प्रेमियोंके हृदयको गद्गद करते हैं ? शरदृतुकी पौर्णमासीकी रात्रिमें चन्द्रिकाचर्चितआकाश मंडल किस विचित्र शोभासे भरारहता है! और हरएक पौर्णमासीको समुद्र अपनी ऊंची २ लहरोंसे उमंगमें आताहुआ चन्द्रदेवसे मिलनेको कितनी छान तोडता है मानो प्रलय करदेग, वसन्तऋतुमें चैतकी चांदनीका कैसा आनन्द होता है ? वाटिकाओंमेंचित्रविचित्र, हरे, नीले, अरुण, श्वेत इत्यादि रंगोंसे रंगीहुई भगवत् की विचित्र रचनाओंकी कलाओंको प्रकट करतीहुई किस शोभाके साथ मन्द-मन्द वायुके लगनेसे अनेक प्रकारकी कुसुमलतिकाएं दायें बायें लदीहुई मुसकाते हुए कुसुमोंसे झूमती रहती हैं ? कोयल, पिक इत्यादि पक्षी अपने हृदययन्त्रके तारोंको एक सुरमें मिलाकर किस मधुर स्वरसे रागनियोंको अलापते हुए पथिकोंके हृदयको अपनी ओर खींच रहे हैं ? जलसे भरेहुए श्यामघन किस प्रकार बिजलीकी तरज लरजसे युक्त होकर उमड घुमड रहे हैं जिनको देख सारंग (मयूर) कैसे आनन्दमें मग्न हो अपने चित्रविचित्र रंगोंसे रंगेहुए पक्षोंको उठा चारों ओर छत्रके सदृश बना नृत्य करते हैं ? गंगा, यमुना इत्यादि नदियां किस प्रकार अपनी उत्ताल तरंगोंसे लहरें लेतीहुई बहरही हैं ? अधिक कहांतक कहूं जन्मान्धको तो किसी स्वरूपवानकी परम मनोहर छविका भी कुछ बोध नहीं होता फिर जब उसे छवि और श्रृंगार ही का बोध नहीं है तो वह क्या जाने, कि प्रेम किस पशुका नाम है ? वह तो जन्मसे मरण पर्यन्त प्रेम हीन सर्वप्रकारके लौकिक आनन्दों से बंचित रहजाता है ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जितना अन्तर इस संसारके सुखों के देखनेमें अन्धे और आंखवालोंमें है ठीक-ठीक ज्योंका त्यों इतना ही अन्तर भगवत्‌शोभा देखनेमें चर्मचक्षु और दिव्यचक्षु वालोंको है। चर्मचक्षुसे ब्रह्मानन्दका स्वरूप वा सुख कुछ भी नहीं देखाजासकता और न अनुभव किया जासकता है। वह केवल दिव्यचक्षु ही है जिससे ब्रह्मसुखका बोध होता है। दिव्यचक्षुवालोंको प्रत्यक्ष होता है कि ब्रह्म क्या है? आत्मा क्या है? प्रकृति कैसी है? मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार इत्यादिके स्वरूप कैसे हैं? हृदयके आकाशमें शान्तिकी ऊषा किस शोभाके साथ उदय होती है फिर आत्मज्ञानका सूर्य किस प्रकार उदय होकर सहस्रों जन्मोंके पिछले सब वृत्तान्तोंको तथा भविष्यत्‌को करतलगत करदेता है अर्थात् दिव्यचक्षुवाला किस प्रकार त्रिकालदर्शी होजाता है? फिर इस आत्मज्ञानके सूर्यकी किरणोंके छिटकनेसे अन्तःकरणके सरोवरमें वेद, वेदांग इत्यादि नाना प्रकारके कमल किस प्रकार आपसे आप प्रफुल्लित होजाते हैं। हृदयमें सर्वत्र उजियाली होजाती है। सब पारलौकिक वार्तायें दृष्टिगोचर होने लगजाती हैं। तो जैसे चर्मचक्षुवाले नाना प्रकारके व्योमयान इत्यादि वाहनोंपर चढकर दशों दिशाओंके नगरोंको देखआते हैं इसी प्रकार दिव्य दृष्टिवाला क्षणमात्रमें देवलोक, बृहस्पतिलोक, ब्रह्मलोक इत्यादि लोकोंकी हवा खा आता है। प्रेमके निर्मल पूर्ण चन्द्रकी शोभा उसे प्रत्यक्ष देखपडती है। तुरीयावस्थाकी वाटिकामें विवेक, विराग, योग, जप, तप इत्यादि पुष्पोंकी टहनिआं बडी शोभासे झूमती दीखपडती हैं? जिनपर धारणा, ध्यान, समाधिके पक्षी कैसे चहचहे माररहे हैं? परम

पुरुषार्थके घनघोर बादल पट्सम्पत्तियोंकी बर्षा कैसे करते हैं ? तथा अष्टसिद्धियां उसके सम्मुख किस प्रकार नृत्य करने लगती हैं ? ये सब बातें स्वच्छरूपसे देखनेमें आजाती हैं, पिंगला ईडाकी गंगा और यमुना लहरें लेतीहुई सुषुम्ना रूप सरस्वतीसे मिलकर त्रिकुटीके प्रयागराजमें पहुंच अपनेमें स्नान करनेवालोंको किस प्रकार समाधिस्थ करदेती है ? अधिक कहांतक कहूं साक्षात् श्यामसुन्दरकी परम मनोहर अलौकिक दिव्य मूर्त्ति परम श्रृंगारयुक्त प्रत्यक्ष दीखने लगजाती है और वह प्राणी उनसे मिल परम प्रेममय वार्ताओंको करने लगजाता है । जैसे ऐह लौकिक नेत्रवाले किसी लोहेके अथवा कपडेके कलघर (Mill) में जाकर प्रत्यक्ष देख लेते हैं, कि नाना प्रकारके यन्त्रों में किस प्रकार मनो लोहे एक मुहूर्तमात्रमें गलाये जाते हैं और उनके नाना प्रकारके कीलकांटे झट कैसे बनजाते हैं तथा सहस्रों मन रूई एक प्रहरमें धुनधुनाकर उनके सूत बनकर किसप्रकार कपडे बुनते चलजाते हैं । इसी प्रकार दिव्य दृष्टि वालोंको प्रत्यक्ष देखनेमें आता है, कि यह सारी सृष्टि प्रकृतिके कलघरमें किस प्रकार पल मारते बनजाती है और उस महेश्वरकी माहेश्वरी माया किस प्रकार अपने रजोगुणी, सत्वगुणी तथा तमोगुणी अहंकारसे करोडों सृष्टिकी रचना, पालन और संहार करती रहती है देखो! यही दिव्यदृष्टि आज अर्जुनको भगवानने प्रदान की है जिससे वह उपर्युक्त सर्व वार्ताओंको अवलोकन करेगा ।

यदि कोई किसीसे यह कहे, कि इस दिव्यचक्षुका स्वरूप और सुख लिखकर वा कहकर मुझे जनादो तो ऐसा कदापि नहीं होसकता । यदि कोई

कल्पपर्य्यन्त इसका स्वरूप और सुख जनानेके लिये लिखता ही चलाजावे और बकता ही चलाजावे तो दूसरेको रंचकमात्रभी समझमें न आवेगा।

अभिप्राय यह है, कि पतिसे मिलीहुई कन्याओंको दाम्पत्यप्रेमका सुख उन कन्याओंको जिनको पतिकी प्राप्ति नहीं हुई है कदापि अनुभव नहीं होसकता।

इसी प्रकार जबतक भगवत्की उपासना चिरकाल पर्य्यन्त न कीजावे तबतक दिव्यचक्षु नहीं मिलसकता। इसकी प्राप्ति निमित्त उपासनाकी नितान्त आवश्यकता है। इसी कारण भगवान्ने इस उपासनाके पट्कमें उपासनाकी ही शिक्षा अर्जुनको देते हुए इस उपासनाकाण्डमें इस दिव्यचक्षुका विषय छेडा है और अर्जुनको प्रदान किया है।

प्रिय पाठको! यदि दिव्यदृष्टि प्राप्त करना चाहते हो तो भगवतकी उपासनामें जी लगाओ क्योंकि संसारके प्रपंचोंमें रहते हुए इस चक्षुकी प्राप्ति असम्भव है।

शंका— आयु थोडी है शारीरिक व्यवहार, भोजन, शयन इत्यादिमें समय बहुत व्यय होता है ऐसी दशामें क्या हमलोगोंसे इतनी उपासना बनसकती है, कि दिव्यचक्षुके अधिकारी होसकें?

समाधान— ऐसा विचार कर निराश हो आलसी बन चुप मत बैठे रहो टिट्टिभ पक्षीका इतिहास अ० ६ श्लो० २३ में वर्णन करचुका हूं उसे देखलो! किसी दिन जो उस दयासागरको दया आजावेगी तो आप ही दिव्यचक्षु प्रदान करदेगा ॥ ८ ॥

जब भगवानने अर्जुनको दिव्यचक्षु प्रदानकर अपना रूप प्रकट करदिया तब सञ्जय धृतराष्ट्रसे कहता है—

मू०— न तद्भासयते सूर्य्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

पदच्छेदः— यत्, [पदम्] गत्वा (प्राप्य) न निवर्त्तन्ते (न पुनरावर्त्तन्ते) तत् [पदम्] सूर्य्यः (सर्वत्रभासनशक्तिमानादित्यः) न, भासयते (प्रकाशयति) शशांकः (चन्द्रः) न [भासयते] पावकः (अग्निः) न [भासयते] तत्, मम (महेश्वरस्य) परम् (सर्वोत्कृष्टम्) धाम (तेजोरूपं पदम्) ॥ ६ ॥

पदार्थः— योगीजन (यत्,) जिस पदको (गत्वा) प्राप्त होकर (न निवर्त्तन्ते) फिरे लौटकर इस संसारमें नहीं आते हैं (तत्) तिस पदको (सूर्य्यः) यह आदित्य (न भासयते) प्रकाशित नहीं करसकता (शशांकः) चन्द्रमा भी (न) नहीं प्रकाशित करता तथा (पावकः) अग्नि भी (न) नहीं प्रकाशित करसकती (तत्) सो ही (मम) मुझ महेश्वरका (परमम) अति श्रेष्ठ (धाम) परमप्रकाशस्वरूप ' पद ' है ॥ ६ ॥

भावार्थः— यशोमतिदुलारे कजरारेनैनवारे श्रीकृष्णप्यारे पहले कहआये हैं, कि जो लोग मान और मोहसे रहित संगदोषसे विवर्जित नित्यप्रति भगवत्स्वरूपमें मग्न और सर्वविषयोंसे विगतस्पृह होकर संसारवृक्षको छेदन करनेवाले हैं वे ही वैष्णवपरमपदको प्राप्त होजाते हैं। सो परमपद कैसा है ? कि [न तद्भासयते सूर्य्यो न शशाङ्को न पावकः] जिस पदको न सूर्य्य प्रकाशित करसकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि । अर्थात् मेरे परम पदके तेजके सामने इनका तेज बिलकुल फीका पडजाता है ।

भगवानने इस श्लोकको श्रुतिके अनुसार ही ज्योंका त्यों कह दिया है। प्रमाण श्रुतिः– " ॐ न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति " (कठो॰ अ॰२ बल्ली २ श्रु॰ १५)

अर्थ– तिस ब्रह्म प्रकाशको सूर्य्य जो अन्य सब पदार्थोंके तथा सारे विश्वके प्रकाश करनेमें समर्थ हैं कुछ भी प्रकाश नहीं करसकता, चन्द्रमा एवं तारागणभी वहां नहीं प्रकाश करसकते और न ये विजलियां ही प्रकाश करसकती हैं तो फिर इस बिचारी आगकी क्या चले? क्योंकि वह ब्रह्मप्रकाश ऐसा अद्भुत प्रकाश है, कि ये जितने सूर्य्य, चन्द्र इत्यादि प्रकाशक पदार्थ हैं सब उसीसे प्रकाशको पारहे हैं उसीके प्रकाशमान होनेसे इन सबोंमें प्रकाश है। जैसे चन्द्रमें तथा नक्षत्रोंमें अपना प्रकाश कुछ भी नहीं है; ये केवल सूर्यके प्रकाशका बिम्ब पडनेसे प्रकाशित देखपडते हैं इसी प्रकार सूर्यमें भी अपना प्रकाश कुछ नहीं उसी ब्रह्मप्रकाशका बिम्ब पडनेसे इस सूर्यमें भी प्रकाश देखपड़ता है।

शंका— चन्द्रपर सूर्यकी किरणोंके पडनेसे जो प्रकाश होता है उसे तो हमलोग इन अपने नेत्रोंसे प्रत्यक्ष कररहे हैं पर ब्रह्मप्रकाशकी किरणें सूर्यको प्रकाशित कररही हैं ऐसा तो देखनेमें नहीं आता फिर क्योंकर मानलियाजावे, कि उस ब्रह्मप्रकाशसे इनको प्रकाशमिलता है?

समाधान— प्रकाशके दो भेद हैं— निराकार और साकार निराकार उसे कहते हैं जो सर्वत्र बिना किसी आधारके फैलरहा हो और इन चर्मचक्षुओंसे नहीं देखाजावे।

साकार— वही प्रकाश जब किसी आधारको पाकर एकठौर सिमट, घन होजाता है तब साकार होजानेके कारण इन चक्षुओंसे देखा जाता है। जैसे निराकार अग्नि और साकार अग्नि। निराकार अग्नि तो काष्ठादि पदार्थोंमें उष्णतारूपसे व्याप्त है और साकार अग्नि किसी आधारद्वारा प्रत्यक्ष इन नेत्रोंसे प्रज्वलित देखी जाती है। अथवा जैसे सामान्य चेतन और विशेष चेतन। सामान्य चेतन वह है जो सर्वत्र सबठौर फैला हुआ है और विशेष चेतन वह है जो किसी योनिको पाकर प्रत्यक्ष बोलता, हंसता, खेलता और कूदताहुआ देख पडता है। इसी प्रकार ब्रह्मप्रकाशके दो भेद जानो। शंका मत करो!

अब विचारना चाहिये, कि विश्वमें जिसका इतना प्रभाव है, कि तीनों लोक प्रकाशित होरहे हैं उसके मुख्यस्वरूपमें कितना अधिक प्रकाश होगा। उस प्रकाशके देखनेमें ये नेत्र कदापि समर्थ नहीं होसकते यदि वह परम प्रकाश नेत्रोंके सामने प्रत्यक्ष होवे तो ये मानुषी नेत्र फट फटकर सहस्रों टुकडे होजावेंगे इसी कारण उस महाप्रभुने अपने परमप्रकाशस्वरूपको इन नेत्रोंसे गुप्त रखा।

प्रत्यक्ष देखाजाता है, कि वायुमें जो प्रकाश निराकार वा सामान्यरूपसे व्याप रहा है वह वर्षाऋतुमें जब विद्युत् होकर चमक उठता है तो इन नेत्रोंकी शक्ति इतना काम नहीं करती, कि उस विद्युतकी दमकको सहन कर सकें। दमकते ही आंखें मिच जाती हैं। फिर बुद्धिमान् विचार करसकते हैं, कि जब इस साधारण विद्युत्की दमकके सम्मुख आंखें मिच जाती हैं तो उस परम प्रकाशकी दमक जो करोडों गुण इस विद्युत्से अधिक है कब सही जासकती है?

अतएव उस महाप्रभुने हम जीवोंपर दयाकर अपनी यथार्थ चमक दमकको सदा गुप्त ही रखा। भगवानने पहले ही अर्जुनसे कहा है, कि " न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा " (अ० ११ श्लोक ८) अर्थात् हे अर्जुन! तू मुझे इन नेत्रोंसे नहीं देखसकता।

हां! जो ऋषि, महर्षि, भगवद्भक्त हैं उनपर दयाकर जब वह महाप्रभु दिव्य-चक्षु प्रदान करे जैसा, कि अर्जुनको प्रदान किया तो उस दिव्यचक्षुसे कुछ देरके लिये उस परम प्रकाशकी दमक देखी जासकती है पर इतना कहनेमें भी वाणीको संकोच होता है। क्योंकि जब अर्जुनने उस तेजको दिव्यचक्षुसे देखा और कहा, कि " स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् " हे भगवन्! तुम्हारे इस प्रकाशसे सम्पूर्ण विश्वको जाज्वल्यमान देखता हूं। उस समय उस तेजको अर्जुन अधिक देखनेको समर्थ न हुआ और अन्तमें उसे कहना पड़ा, कि हे भगवन! " तेजोभिरापूर्य जगत् समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो! " (अ० ११ श्लोक ३०) तुम्हारी उग्र प्रभा अपने तेजसे इस समग्र जगत्‌को तपातीहुई देखपडती है। एवम्प्रकार उस तेजको क्षणमात्र भी अर्जुन सहन न करसका और उसे कहना पड़ा, कि " तदेव मे दर्शय देव रूपम् " (अ० ११ श्लो० ४५) हे देव! मैं तुम्हारे इस तेजोमयरूपको देखनेमें समर्थ नहीं हूं इसलिये वही पहला रूप दिखादो!

इससे सिद्ध होता है, कि भगवत्‌के यथार्थ तेजोमयस्वरूपके देखनेको कोई समर्थ नहीं होसकता

मुख्य अभिप्राय यह है, कि उस ब्रह्मप्रकाशके सम्मुख अन्य सब प्रकाश मलीन हैं। इसी कारण भगवान्‌ने पहले ही अर्जुनसे कहा है, कि तहां सुर्य, चन्द्र वा अग्नि किसीका प्रकाश काम नहीं करसकता। शंका मत करो!

अब आनन्दसागर नटनागरे श्रीकृष्णचन्द्र कहते हैं, कि [यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम] जिस मेरे परम प्रकाशस्वरूप पदको योगीजन पहुंचकर फिर इस घोर संसारसागरमें नहीं पडते। जहां पहुंचकर सदाके लिये स्थिर होजाते हैं वही मेरा परमधाम है अर्थात् परम प्रकाशस्वरूप पद है।

प्रश्न— भगवान् जिस पदके विषय एवम्प्रकार स्तुति कररहे हैं वह कोई विशेष स्थान ब्रह्मलोकादि स्थानोंसे उच्च किसी ठौरमें बनाहुआ है? अथवा केवल स्तुति करने योग्य अर्थवाद मात्र है।

उत्तर— नहीं ऐसी शंका मत करो भगवान्‌का कहना अर्थवाद नहीं है सर्वप्रकारसे उचित है। भगवान्‌के जितने वचन हैं वे ऐसी चतुराईसे कथन कियेहुए हैं, कि जो जिस प्रकारका अधिकारी है उसको अपने अधिकारानुसार अर्थ समझमें आजावे और तदनुसार आचरण करे। इसलिये जो कुछ मैं कहता हूं सुनो! शंका मत करो!

शास्त्रोंमें यह वार्त्ता प्रसिद्ध है, कि प्रत्येक शास्त्रीय वचनोंके तीन प्रकारसे अर्थ होते हैं आधियज्ञिक, आधिदैविक, और आध्यात्मिक।

प्रमाण—"अधियज्ञं ब्रह्म जपेदाधिदैविकमेव च। आध्यात्मिकं च सततं वेदान्ताभिहितञ्च यत्" (मनुः अ० ६ श्लो० ८३) अर्थ— अधियज्ञ करके, अधिदैव करके तथा अध्यात्म करके अथवा वेदान्तके वचनोंसे विहित जो ब्रह्मप्राप्तिके साधन करनेवाले वेदवचन हैं उनको जपे तथा निरन्तर ध्यानयुक्त अभ्यास करे। क्योंकि "तज्जपस्तदर्थभावनम्" इस सूत्रके अनुसार मन्त्रोंके अर्थकी भावना करना ही जप है। सो कर्म, उपासना और ज्ञान तीनोंका अवलम्ब लेकर करे। तहां अधियज्ञसे कर्म, अधिदैवसे उपासना और आध्यात्मिकसे ज्ञानसाधनका तात्पर्य रक्खा है।

जो हो इस प्रमाणसे सर्वशास्त्रोंके वचनोंके तीन प्रकारके ये अर्थ होते हैं इसलिये "तद्धाम परमं मम" इस वचनका भी अर्थ तीन प्रकारसे करना चाहिये।

१. आधियाज्ञिक— इस अर्थका कर्मोंसे सम्बन्ध है इसलिये कर्म करनेवालोंको यज्ञ इत्यादि कर्मोंका सम्पादन करतेहुए जो कर्मों की अत्यन्त उत्कृष्ट सिद्धि अन्तःकरणकी शुद्धि है तिस शुद्धि ही को परमधाम समझना चाहिये। अर्थात् प्राणी पहले इस संसारमायामें पड जब तक अपनी हानि और लाभकी चिन्तामें मग्न रेहता है तब तक उसे आर्त वा अर्थार्थीके नामसे पुकारते हैं और जब तक वह इन दोनों नामोंमें किसी भी एक नामका अधिकारी रहेगा तबतक वह काम्य कर्मोंके फन्देमें पडाहुआ वेद शास्त्रके वचनोंके अनुसार आधियाज्ञिक अर्थके समझनेका अधिकारी रहेगा और इसी कारण पहले उसे कर्मों के फलकी पूर्तिमें रुचि बनी रहेगी। एवम्प्रकार सकामकर्म करते २ किसी

समय गुरूपदेशद्वारा उसे निष्कामकर्म करनेकी श्रद्धा उत्पन्न होगी पश्चात् निष्काम कर्मोंके सम्पादन करते २ उसे अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त होगी यही अन्तःकरणकी शुद्धि संसारी पुरुषोंके लिये 'परमधाम' है जहांसे फिर नहीं लौटता। परमधाम शब्दका यह आधियाज्ञिक अर्थ हुआ।

अब इस पदका आधिदैविक अर्थ सुनो! जो मनुष्य अच्छे पुरुषोंकी संगतिसे संसारसुखसे श्रेष्ठ, स्वर्ग इत्यादि देवलोकोंके सुखोंको मानलेता है वह अपने इष्टदेवकी उपासना कर अपने इष्टके लोकमें पहुंचजाता है। उसके लिये अपना इष्टलोक ही परमधाम है। सो भगवान् पहले सातवें अध्यायमें श्लोक २७ पर्यन्त कहचुके हैं देखलो।

अब बिचार करना चाहिये, कि इन भिन्न-भिन्न लोकोंपर चढते-चढते अन्तमें गोलोक तक पहुंचजाना ही परमधाम पदका आधिदैविक अर्थ है।

क्योंकि गोलोक शब्दका अर्थ है "गोर्ज्योतीं रूपंज्योतिर्मयः पुरुष इत्यर्थस्तस्य लोकः स्थानम्" अर्थात् गो कहिये ज्योतिःस्वरूप तथा ज्योतिर्मयपुरुषको तिसका जो विशेषस्थान उसे कहिये गोलोक अथवा दूसरा अर्थ यों भी करलो, कि "गोभिः किरणैः ब्रह्मज्ञानतेजोभिरित्यर्थः लोक्यते इति" अर्थात् 'गो' जो ब्रह्मज्ञानरूप किरण तिनसे जो भरा है उसे कहिये गोलोक। इसलिये गोलोक और परमधाम दोनों पदोंका समान अर्थ होता है। तिस गोलोकका वर्णन ब्रह्मवैवर्तपुराणमें यों किया है—

"निराधारश्च वैकुण्ठो ब्रह्माण्डानां परोवरः ।
तत्परश्चापि गोलोकः पञ्चाशत्कोटियोजनात् ॥
ऊर्द्ध्वे निराश्रयश्चापि रत्नसारविनिर्मितः ।
सप्तद्वारः सप्तसारः परिखासप्तसंयुतः ॥
लक्षप्रकारयुक्तश्च नद्या विरजया युतः ।
वेष्टितो रत्नशैलेन शतशृंगेण चारुणा ॥
योजनायुतमानञ्च यस्यैकं शृंगमुज्ज्वलम ।
शतकोटियोजनश्च शैल उच्छ्रित एव च ॥
दैर्घ्यं तस्य शतगुणं प्रस्थे च लक्षयोजनम ।
योजनायुतविस्तीर्णस्तत्रैव रासमण्डलः ॥
अमूल्यरत्ननिर्माणो वर्तुलश्चन्द्रबिम्बवत् ।
पारिजातवनेनैव पुष्पितेन च वेष्टितः ॥
कल्पवृक्षसहस्रेण पुष्पोद्यानशतेन च ।
नानाविधैः पुष्पवृक्षैः पुष्पितेन च चारुणा ॥"

(अर्थ स्पष्ट है)

ब्रह्मवैवर्त्तपुराणके इन श्लोकोंसे सिद्ध होता है, कि गोलोक जो गोलोकविहारीका नित्यस्थान है वह सब लोकोंसे ऊपर जो वैकुण्ठ धाम जिससे भी पचास करोड योजन ऊपर यह गोलोक है, अत्यन्त ऊंचे स्थानमें निराधार है जहां विरंजा नामकी नदी बह रही है, रत्नोंके बडे ऊंचे २ पर्वत खडे हैं तहां ही भगवानका रासमण्डल है, चन्द्रमाके समान गोलाकार अत्यन्त प्रकाशमान मानों एक तेजका पिण्ड है जो सूर्यके पिण्डसे अत्यन्त विस्तृत और अधिक प्रकाशमान है

जहां पारिजातपुष्पका बन है और सहस्रों वाटिकाएं सुशोभित होरही हैं जिनमें नाना प्रकारके सुन्दर २ पुष्प खिले हुए हैं।

तात्पर्य्य यह है, कि सम्पूर्ण सुखभोगोंका यह एक परम सुन्दर स्थान है और यह साक्षात् श्यामसुन्दरका परम रम्यस्थान है इसीको भगवान् परमधाम कहते हैं यहां जाकर भगवान्के साथ नित्य विहारमें मग्न रहना पडता है। जानना चाहिये, कि इस गोलोकमें पर्वत नदी, वाटिका, पुष्प जो कुछ वर्णन किये गये सब ज्योति ही ज्योतिके हैं इनमें लौकिक वाटिकाएं वा पर्वत नहीं हैं इसीलिये इस लोकको परमधाम कहना आधिदैविक अर्थ है क्योंकि यहांसे लौटकर फिर संसारमें नहीं आना पडता।

अब इस परमधाम शब्दका आध्यात्मिक अर्थ सुनो! जो सब अर्थोंमें श्रेष्ठ और आत्मज्ञानका सार है।

भगवानने जो इस श्लोकमें कहा, कि जहां सूर्य, चन्द्र, और अग्निदेव प्रकाश नहीं करसकते इसका आध्यात्मिक अर्थ यों है, कि ये सूर्य, चन्द्र और अग्नि तीनों नेत्र, मन और वाणीके अधिष्ठातृदेव हैं। अर्थात् सूर्यकी शक्ति पाकरे यह चक्षु देखता है चन्द्रमा की शक्ति पाकर यह मन मनन करनेमें समर्थ होता है और अग्निकी शक्तिसे वचन बोलनेमें समर्थ होता है। क्योंकि ये तीनों इन तीन इन्द्रियोंके अधिष्ठातृदेव हैं इसलिये भगवान्का यह कहना, कि जहां सूर्य नहीं प्रकाश करता उसका यही तात्पर्य है, कि उस मेरे परमानन्दमय परमप्रकाशस्वरूपको ये नेत्र नहीं देखसकते तथा चन्द्राधिष्ठित जो मन यह भी वहांतक पहुंचनेको समर्थ नहीं है तथा

अग्न्यधिष्ठित जो वचन यह भी उस पदके विषय कुछ बोलनेको समर्थ नहीं है। प्रमाण श्रु०—" ॐ न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति न मनः " न वहां आंख जाती हैं, न वचन जाता है, न मन जाता है। अर्थात् इन इन्द्रियोंको उसे प्राप्त करलेनेकी तनक भी शक्ति नहीं है। इसी वचनको और भी अनेक श्रुतियां बारम्बार पुष्ट कररही हैं, कि " ॐ नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा " (कठो० अ० २ बल्ली ३ श्रु० १२)

अर्थ—वह भगवत्‌का परमधाम (स्वरूप वा स्थान) न तो वचन से न मनसे और न नेत्रसे प्राप्त होसकता है। क्योंकि सब इंद्रियां अन्तःकरण सहित उस परमधाम तक पहुंचते २ उस प्रकाशमें ऐसे लय होजाती हैं जैसे लवणकी पुतली लवणसागरके भीतर जाते-जाते गलजाती है। इसी कारण भगवान्‌ने कहा, कि मेरे परमधाम को सूर्य, चन्द्र और अग्निदेव प्रकाश नहीं करसकते। क्योंकि इन देवताओंसे अधिष्ठित जो आंख, मन और कान हैं इन सबोंको उसी परम ज्योतिःस्वरूप वैष्णवी पदसे प्रकाशकी प्राप्ति होरही है तब ये उस परमधामको प्रकाश करनेमें कैसे समर्थ होसकते हैं ?

अब जो भगवान्‌ने यों कहा, कि " यद्गत्वा न निवर्तन्ते " जहां जाकर फिर लौटता नहीं तिसका मुख्य तात्पर्य यह है, कि जिज्ञासु अपनी इन्द्रियों द्वारा सब कर्मोंका सम्पादन करता हुआ निष्काम कर्मोंके अभ्याससे प्रथम चित्तकी शुद्धि लाभ करता है फिर उपासनाका साधन करताहुआ ज्ञानकी उच्चपदवीपर पहुंच जाता है तहां इसको ऐसा बोध होनेलगजाता है, कि " अहं ब्रह्मास्मि " मैं

ब्रह्म हूं अथवा " रामोऽहम् " मैं राम हूं, " कृष्णोऽहम् " मैं कृष्ण हूं, " शिवोऽहम् " मैं शिव हूं इत्यादि। अर्थात् जब श्रवण, मनन, निदिध्यासन इत्यादि साधनोंका सम्पादन करते २ भगवत्स्व-रूपमें एकताको प्राप्त करता है तो जानो, कि वह भगवानके परमधामको पहुंच गया। जैसे समुद्रमें मिलती हुई छोटी २ सोतियां फिर लौट-कर पृथ्वीपर नहीं बहतीं ऐसे भगवत्स्वरूपकी प्राप्ति अर्थात पूर्ण ब्रह्मज्ञानपर पहुंचा हुआ मस्तिष्क फिर लौटकर संसारी नहीं बनसक्ता।

पहले जैसे अपने मन द्वारा इस मायामय संसारजालमें पडा हुआ वार्ताओंको कहरहा था तिस वाणीसे भी चुप होजाता है अर्थात् देखना, विचरना, बोलना इत्यादि उपाधियोंसे रहित होजाता है। इसी कारण प्राणी फिर लौटकर अपने पिछले मायामय स्वरूपमें नहीं फँसता। इसी तात्पर्यको जनाते हुए भगवान् कहते हैं, कि आंख इत्यादि इन्द्रियां वहां नहीं प्रकाश करतीं अथवा यों कहलीजिये, कि प्राणी फिर लौटकर इन इन्द्रियोंके संघातरूप शरीरमें नहीं आता।

" अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्। यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम " (अ० ८ श्लो० २१) अर्थात् वह अव्यक्त जो अक्षर पुरुष अव्यक्तका भी अव्यक्त है जिसको परमगति कहते हैं तिसे प्राप्तकर जीव फिर लौटकर जीवत्वको नहीं प्राप्त होता है वही मेरा परमधाम है। इसी विषयको अगली श्रुति पूर्णरीतिसे व्याख्यान करती है। प्रमाण श्रु०—" ॐ यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्ये-ऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयं गतो भवति "।

अर्थ— जब कोई मोक्षाभिलाषी इस अदृश्य चक्षुसे नहीं अवलोकन करने योग्य) अनात्म्य (आत्मा जो मन तिससे नहीं मनन करने योग्य) अनिरुक्त (वचनसे नहीं कथन करनेके योग्य) तथा अनिलयन (जगत्का कारणरूप) जो निलयन (त्रिगुणात्मिका प्रकृति तिसको भी अगम्य अर्थात् ज्ञात नहीं होने योग्य जो ब्रह्मप्रकाश है वह किसी प्रकार ग्रहण करने योग्य नहीं है ऐसे ब्रह्म प्रकाशमें प्रतिष्ठा लाभ करके प्राणी निर्भय होजाता है अर्थात् संसारमें लौटनेके भयसे रहित होजाता है ।

इस श्रुतिसे भी सूर्य, चन्द्र और अग्निका उस परम प्रकाश के समीप नहीं प्रकाश करना सिद्ध होजाता है । क्योंकि यहां जो अदृश्य, अनात्म्य, अनिरुक्त और अनिलयन इन चार विशेषणों से उस परब्रह्मको विभूषित किया है तहां 'अदृश्य' कहनेसे नेत्रके प्रकाश अर्थात् सूर्यका और 'अनात्म्य' कहनेसे मन अर्थात् चन्द्रमा का और 'अनिरुक्त' कहनेसे वचन अर्थात् अग्निके प्रकाशका निषेध किया इससे भगवानका वचन सिद्ध हुआ, कि जो ब्रह्म चक्षु, मन, वाणी इत्यादिसे अगम्य है तिसको पहुंचकर फिर यह प्राणी जीवत्वको नहीं प्राप्त होता ।

प्रिय पाठको ! मैंने आपको इस श्लोकमें कथन किये हुए "तद्धाम परमं मम" का आधियज्ञिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों प्रकारके अर्थोंको दिखला दिया तहां अन्य किसी मतमतान्तरवालोंको अपने पक्षपातके कारण दो प्रकारके अर्थोंमें किञ्चित् शंका उदय हो तो हो पर तीसरा जो आध्यात्मिक अर्थ है इसे तो सब मतवाले स्वीकार करेंगे ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि यह जीव ब्रह्मका अंश होनेसे ब्रह्म ही है इस कारण जब अज्ञानके मिट जानेसे अपने रूपको पहचान ब्रह्मस्वरूप होजाता है तो फिर लौटकर जीवत्वको प्राप्त नहीं होता। जैसे अग्निकी ज्वाला जब आकाशमें उडकर प्रवेशकरजाती है तो फिर लौटकर पृथ्वीकी ओर नहीं आती ॥ ६ ॥

इतना सुन अर्जुनके चित्तमें इस बातके जाननेकी अभिलाषा उत्पन्न हो आयी, कि किस प्रकार यह जीव मायाके प्रवाहसे जीवत्वको प्राप्त हो भिन्नभिन्न शरीरोंमें फंसता है ? और फिर कैसे उस मायाके दूर होनेसे अपने स्वरूपको पहचान परमानन्द लाभ करताहुआ परमधाम को पहुँचजाता है ? अन्तर्यामी भगवान् अर्जुनके हृदयकी गति जान इस रहस्यको अगले श्लोकमें यों कहने लगे।

० मू— ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

पदच्छेदः— मम (अवयवरहितस्य निरंशस्य। परमात्मनः) एव (निश्चयेन) अंशः (भागः) सनातनः (सर्वदैकरूपः। नित्यः। पुरातनः) जीवभूतः (प्राणी भोक्ता कर्त्तेति प्रसिद्धः) मनः, षष्ठानि (मनः षष्ठं येषां तानि) प्रकृतिस्थानि (अज्ञाने सूक्ष्मरूपेण स्थितानि। स्वस्वप्रकृतौ कर्णशष्कुल्यादौ स्थाने स्थितानि) इन्द्रियाणि (श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि) जीवलोके (जीवानां लोके संसारे) कर्षति (आकर्षति) ॥ ७ ॥

पदार्थः— (मम एव) निश्चय करके मुझ अवयव रहित परमात्माका (अंशः) अंश (सनातनः) नित्य और पुरातन

(जीवभूतः) जो यह जीवरूप है सो (**मनः षष्ठानि**) मन है छठवां जिनमें ऐसी (**प्रकृतिस्थानि**) प्रकृतिमें स्थित (**इन्द्रियाणि**) श्रवण इत्यादि इन्द्रियोंको (**जीवलोके**) इस संसारमें (**कर्षति**) खैंच लेता है ॥ ७ ॥

भावार्थः— पीतपटधारी श्रीकृष्णबिहारी भगवान सच्चिदानन्द अर्जुनके हृदयकी गति जान मायाजनित जीवत्व और तिस मायाके दूर होनेपर अपने परमप्रकाशस्वरूप ब्रह्मत्वके होनेका भेद यहांसे लेकर अगले कई श्लोकों द्वारा अर्जुनके प्रति कहने लगे, कि [**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**] हे अर्जुन ! देख यह जीव जो सनातन है अर्थात् सदासे इस जीवलोकमें वर्तमान है सो मुझ पूर्णब्रह्म ही का अंश है परन्तु मैं तो सदा अवयवोंसे रहित निरवयव हूं अर्थात् अंशांशीभावसे रहित सदा एकरस परिपूर्ण हूं । इसलिये मैं जो इस जीवको अपना अंश कहरहा हूं इसका यह तात्पर्य नहीं है, कि जैसे किसी वस्त्रके थानको काटकर धोती, टोपी, चादर इत्यादि बनालेते हैं । यदि इस प्रकार अंशांशीभाव मानाजावे तो ये असंख्य जीव अनादिकालसे बनते ही चले आते हैं फिर तो कटते-कटते मैं किसी दिन धज्जी होजाऊंगा और मेरा कहीं कुछ पता भी नहीं रहेगा । यदि कहो, कि तुम्हारे रूपका विस्तार बहुत है इसलिये कटते-कटते लुप्त नहीं होसकते ! तो जाने दो, परन्तु इतना तो अवश्य कहना पडेगा, कि यद्यपि मैं एकबारगी लुप्त नहीं होसकता तथापि कटते-कटते बडेसे छोटा तो अवश्य होजाऊंगा इसलिये विभाग करके इस जीवको अंश मानना मुझे अभिमत नहीं है पर

हां! यदि इस प्रकार अंश माना जावे, कि जैसे एक बलती हुई दीपककी ज्वालासे नगरभरकी बत्तियां जलालेते हैं पर जिस ज्वालासे वे सहस्रों बत्तियां जलगयी हैं उस ज्वालाके आकारमें न तो किसी प्रकारकी न्यूनता होती है और न उसके तेज ही में कमी होती है वह ज्योंका त्यों बलता रहता है इसी प्रकार मेरे परमज्योतिर्मय तेजसे सहस्रों जीव बलजाते हैं पर मुझमें किसी प्रकारकी न्यूनता नहीं होसकती, मैं ज्योंका त्यों बनारेहता हूं। इस प्रकारसे अंशका मानना थोडी देरके लिये उचित देखा-जाताहै पर इस दृष्टान्तको भ्रमात्मकज्ञानसे पंचभूत बिम्बकरके तथा इस शरीरान्तर्गत इन्द्रियों और अन्तःकरणकी उपाधि करके कहनेमात्र अंश मानना है। इसलिये जैसे सूर्यका बिम्ब जलकी उपाधि करके जलमें थर्राताहुआ टुकडेटुकडे देख पडता हैं सो केवल दृष्टिका भ्रम है। पर यथार्थमें ज्ञानकी परमार्थदृष्टिसे देखो तो उस जलमें न कहीं सूर्यका बिम्ब है और न कोई अंश है क्योंकि जल सूखते ही कहीं कुछ नहीं रहता। यदि कहो, कि वह बिम्ब सूर्यमें चला-जाता है तो वस्तुतः एक रत्तीमात्र भी सूर्यका अंश सूर्यसे विलग होकर उस जलमें नहीं आया था। फिर जिस वस्तुका आना ही सिद्ध नहीं है उसका फिर लौटकर जाना कैसे सिद्ध होसकता है। पर फिर भी अपनी बुद्धिकी उपाधिद्वारा एक मायाकृत भ्रमात्मक बोधसे आना-जाना सिद्ध होता है। इसी प्रकार जबतक ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेयकी त्रिपुटी अन्तःकरणमें बनीहुई है अर्थात् जबतक सुनने, सुनाने, जानने और जनानेकी उपाधि लगीहुई है तबही तक जिज्ञासुओंके समझानेके लिये इस प्रकार कथन करना पडता है; कि यह जीव मेरा अंश

मेरे धामको चलाजाता है और लौटकर नहीं आता । पर यथार्थमें कुछ आता जाता नहीं वहां ही रहता है जहां है। जितने समय तक अज्ञानसे ज्ञान ढंकाहुआ है उतने ही समय तक यह जीव कहनेमात्र विलग समझा जाता है और कर्ता वा भोक्ता समझा जाता है तथा इसका आना जाना समझा जाता है पर जैसे ही गुरुकृपाद्वारा आवरण हटा और अन्तःकरणकी शुद्धि हुई वैसे ही चित्तकी एकाग्रता लाभ कर प्राणी जहांका तहां ही परमधामको पहुंच जाता है अर्थात् उसे साक्षान्मुक्ति प्राप्त होजाती है ।

भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! इसी तात्पर्यको जनानेके लिये मैंने तुझे परमधाम अर्थात् अपने ज्योतिर्मयस्वरूप तक जानेकी वार्ता कही जहांसे फिर लौटकरे जीवत्वको प्राप्त नहीं होना पडता ।

अब यह जीव संसारी कैसे बनजाता है? इस अभिप्रायके जनानेके लिये भगवान् कहते हैं, कि [**मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति**] श्रवण, चक्षु, जिह्वा, नासिका, त्वचा इत्यादि जो पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं वे कर्णरन्ध्र, चक्षुगोलक, जिह्वा, नासिकाछिद्र तथा त्वचामें छठवें अपने राजा मनको लिये बैठी हैं इन सबोंको वह मेरा अंश (जीव) बलात्कार अपनी ओर इस जीवलोकमें खैंच लेता है और एक शरीरसे दूसरे शरीरमें लेजाता है ।

एवम्प्रकार जो शरीरोंके संघातमें फँसजाना है सो बुद्धिके परिच्छेद द्वारा अनुभवमात्र होता है । जैसे महदाकाश घटाकाशमें घिराहुआ

अंशमात्र देखपड़ता है पर यथार्थमें आकाशका कोई अंश आकाश से भिन्न नहीं होता केवल घटकी उपाधिद्वारा परिच्छिन्न देखपड़ता है। जैसे किसी कतरनीको हाथमें लेकर आकाशको टुकड़े-टुकड़े करते चलेजाइये तो कतरनीकी चालमात्र हीसे बुद्धिमें आकाश के खण्डोंका बोध होगा पर यथार्थमें कहीं कुछ भी विभागको प्राप्त नहीं होता इसी प्रकार जितने व्यापार इस संसारमें बुद्धिद्वारा होरहे हैं वे ही जीवलोकके नामसे प्रसिद्ध हैं यथार्थमें कोई जीवलोक किसी विशेषस्थानमें नियत नहीं है जहां, सब जीव अर्थात् उस परब्रह्मके टुकड़े काट-काट कर इकट्ठे करदियेगये हों और उसका जीवलोक बनगया हो। हां! द्वैतवादी जो जीव और ब्रह्मको बिलग-बिलग माननेवाले हैं वे साधनकालपर्यन्त ब्रह्म जीवका भेद मानते हैं पर वे भी अन्तमें सायुज्यमुक्तिके माननेवाले हैं। क्योंकि सिद्धान्तकालमें कुछ भेद नहीं है। जैसे तरंग समुद्रका अंश कहा जाता है पर समुद्रसे भिन्न नहीं यदि भिन्न होजावे तो उस तरंगमें जो लहरानेकी शक्ति है वह कदापि न रहे साधारण जलरूप होजावे। इसी प्रकार, यदि जीव ब्रह्मसे बिलग होजावे तो उसमें भोगनेकी शक्ति एकबारगी न रहे। इस विषयको अध्याय १३ में पूर्णप्रकार दिखला आये हैं।

भगवान्‌के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि केवल कथनमात्र जो यह जीव मेरा अंश है वह अपने सत्स्वरूपको पहुंचजाता है यही इसका परमधामको पहुंचजाना है तथा एक बार जो इसने अपना स्वरूप जानलियां तो फिर अज्ञानके वश नहीं होता यही इसका लौटकर नहीं आना है अर्थात् " अहं ब्रह्मास्मि " " तत्त्वमसि " " प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म "

" अयमात्मा ब्रह्म " इत्यादि महावाक्योंसे इस जीवका ब्रह्मरूप होना सिद्ध ही है। पर इतना अवश्य कहना पडेगा, कि शरीरकी उपाधिसे यह जीव अपनी इंद्रियोंको साथ लिये चौरासी लक्ष योनियों में प्रवेश करता और निकलता जान पडता है यद्यपि इन योनियोंमें इसका प्रवेश करना और निकलना मायाके सम्बन्धसे अनुमान कियाजाता है और उन योनियोंमें इसका प्रवेश करना और भोगना सिद्ध होता है पर ये सब भ्रान्तिमात्र हैं। ब्रह्मज्ञान प्राप्त होते ही ये सारी बातें नष्ट होजाती हैं। जैसे कोई राजा स्वप्नमें ऊंटवाला बनकर ऊंटोंकी पंक्ति खैंचे लिये जाता हो ऐसे यह स्वयं प्रकाशस्वरूप चैतन्य मायाकी निद्रामें मनके सहित इन्द्रियोंकी पंक्तिको खैंच एक स्थानसे दूसरे स्थानको लेजाने वालेके समान देखनेमें आता है ॥ ७ ॥

अब किस समय तथा किस प्रकार यह जीव मन सहित इन्द्रियोंको अपने साथ२ खैंच लेजाता है ? सो कहते हैं–

मू०— शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८

पदच्छेदः— ईश्वरः (देहादिसंघातस्वामी जीवः) यत् (यदा) उत्क्रामति (शरीराद्बहिर्निर्गच्छति) च, यत, शरीरम् (देहान्तरम्) अवाप्नोति (प्राप्नोति) एतानि (मनः षष्ठे-न्द्रियाणि) गृहीत्वा (आदाय) अपि, संयाति (विषयप्रदेशं प्रति गच्छति) वायुः (पवनः) आशयात् (कुसुमाकरात् । पुष्पादेः स्थानात्) गन्धान् (गन्धात्मकान् सूक्ष्मकान् अंशान्) इव ॥८॥

पदार्थः— (ईश्वरः) इस देहका स्वामी जीव (यत्) जिस कालमें (उत्क्रामति) एक शरीरसे निकलता है (च) और (यत्) जब (शरीरम्) दूसरे शरीरको (अवाप्नोति) प्राप्त होता है तब (एतानि) मनके सहित पांचों ज्ञानेन्द्रियोंको (गृहीत्वा) अपने साथलेकर (संयाति) चलाजाता है कैसे ? सो कहते हैं (वायुः) जैसे पवन (आशयात्) पुष्पोंकी कलियों से (गन्धान्) गन्धोंको लेकर दूसरे स्थानमें चलाजाता है (इव) तैसे ही ॥ ८ ॥

भावार्थः— अपूर्वसुखधाम नयनाभिराम श्रीघनश्याम भगवान् कृष्णचन्द्र जो अर्जुनसे पहले कहचुके हैं, कि यह जीव मन सहित पाचों इन्द्रियोंको खैंचलेता है उसी विषयको स्पष्ट करतेहुए अब कहते हैं, कि [शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः] दशों इन्द्रियों और चारों अन्तःकरण तथा पांचों प्राणोंके साथ मिलकर जो इस शरीरका एक संघातरूप भण्डार बनाहुआ है और जिसमें अन्नमय, प्राणमय इत्यादि पांचों कोश विद्यमान हैं तिनका स्वामी जो जीव है उसको भगवानने इस श्लोकमें उस ईश्वरके नामसे पुकारा है।

दूसरी बात यह है, कि " **पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान्** " पाठक्रमसे अर्थक्रम सदा बलवान् होता है इस न्यायसे यहां ईश्वर शब्दका अर्थ देहादि संघातका स्वामी जीव ही कियागया है अर्थात् जगत्का जो ईश्वर तिससे यहां तात्पर्य नहीं रखा वरु इस देहके संघातका जो स्वामी यह जीव उसीको ईश्वरकी उपाधि दीगयी है। इसी कारण श्रीआनन्दकन्द ब्रजचन्द कहते हैं, कि इस देहका ईश्वर जो यह जीव

जिस समय एक शरीरसे निकलता है और दूसरे शरीरमें प्रवेश करता है तब [गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्] उस समय यह अपने साथ २ मन और श्रवण इत्यादि पांचों ज्ञानेन्द्रियोंको इस प्रकार खैंचे हुए लिये जाता है जैसे वायु पुष्पादिकी गंधको ग्रहणकर एक स्थानसे दूसरे स्थानमें लेजाती है। यहां जो भगवान्ने 'एतानि' शब्द का प्रयोग किया है सो श्रीमुखसे कहनेका तात्पर्य केवल ज्ञानेन्द्रियोंहीसे नहीं है वरु कर्मेन्द्रिय, पांचों प्राण तथा अन्य भी जो कुछ इस शरीर में शक्तिमान् तत्व हैं उन सबोंसे भी प्रयोजन है। जैसे 'मनः षष्ठानि' पद ज्ञानेन्द्रियोंके अतिरिक्त अन्य इन्द्रियोंका भी उपलक्षण है।

एक शरीरको छोडकर दूसरे शरीरमें जानेका मार्ग कौनसा है? सो इस गीताके अ० २ श्लोक २२ में छान्दोग्य उपनिषत्की पञ्चाग्निविद्या कथन करनेवाली श्रुतियों द्वारा पूर्णप्रकार वर्णन करदियागया है देख लेना।

इस जीवके एक शरीरसें उत्क्रमण करके दूसरे शरीरमें जानेके विषय अनेकानेक श्रुतियां और स्मृतियां प्रमाण रूपमें हैं।

अब यह जीव किस प्रकार अपने साथ मन सहित इन्द्रियोंको एक शरीरसे दूसरे शरीरमें खैंच लेजाता है? इसके विषय एक दृष्टान्त देकर श्रीआनन्दकन्द अर्जुनके प्रति कहते हैं कि "वायुर्गन्धानिवाशयात्" जैसे वायु कुसुमकलियोंकी कर्णिकाके मध्यसे अत्यन्त सूक्ष्म परागोंको लेकरे दूसरे स्थानको उड जाती है ऐसे यह जीव अन्तःकरण सहित इन्द्रियोंको लेकर उडजाता है। पहले आकाशकी ओर जाकर फिर नीचे

लौटकर इस लोकमें अपने कर्मानुसार शुभाशुभ योनियोंको पाता है अर्थात् जिस प्रकारकी गन्ध लेकर प्राणी उडता है उसी प्रकारका शरीर पाता है । यदि शुद्धान्तःकरणसे बिना किसी प्रकार रागद्वेषके उत्तम और श्रेष्ठ वासनाओंको लेकर उडता है तो फिर उत्तम और श्रेष्ठ योनियोंमें प्रवेश करता है नहीं तो इसके प्रतिकूल नीच और निकृष्ट वासनाओंको लेकर उडता है तो फिर लौटकर नीच योनियोंमें अर्थात् शूकर, कूकर और चाण्डालादि योनियोंमें उत्पन्न होता है सो यह नियम अनादिकालसे चला आरहा है ।

शंका— पिछले श्लोकका अर्थ करते हुए यों कहागया है, कि यह जहां रहता है वहां ही साक्षान्मुक्ति प्राप्त करलेता है और अब कहते हैं, कि एक स्थानसे दूसरे स्थानमें चलाजाता है । इन दोनों बातोंमें परस्पर विरोध पाया जाता है ऐसा क्यों ?

समाधान— यह शंका निरर्थक है कारण यह है, कि ज्योंकेत्यों अपनी ठौरपर रहते हुए साक्षान्मुक्ति उन प्राणियोंके लिये है जो गुरुचरणसेवा द्वारा जीवन्मुक्ति लाभ करचुके हैं । मायाके विस्तृत इन्द्रजालसे निकल गये हैं और यह जो आना, जाना, निकलना, पैठना, चढना, गिरना, बंधजाना, खुलजाना, सुखीदुःखी होजाना इत्यादि कहागया सो सब उन जीवोंके लिये हैं जिन्होंने जीवन्मुक्ति नहीं प्राप्त की है क्योंकि वे मायाकी निद्रामें स्वप्नवत् नाना प्रकारकी चेष्टाओंको कररहे हैं इसलिये उक्त वचनोंमें विरोध नहीं है । शंका मत करो ॥ ८ ॥

माहेश्वरी मायाके सम्बन्धसे यह जीव किस प्रयोजनकेलिये मन-सहित इन्द्रियोंको खैंचे हुए बेलका माराहुआ बबूलतले और बबूलका मारा हुआ बेलतले फिरा करता है सो भगवान् अगले श्लोकमें स्पष्टरूपसे दिखलाते हैं।

मू०— श्रोत्रञ्चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

पदच्छेदः— अयम् (देहस्थो जीवः) श्रोत्रम् (शब्दोपलब्धिकरणमिन्द्रियम्) चक्षुः (रूपोपलब्धिकरणमिन्द्रियम्) स्पर्शनम् (त्वगिंद्रियम्) च, रसनम् (जिह्वेंद्रियम्) घ्राणम् (गन्धोपलब्धिकरणमिन्द्रियम्) च (तथा) मनः (अन्तःकरणम्) अधिष्ठाय (आश्रित्य) एव (निश्चयेन) विषयान् (शब्दादीन्) उपसेवते (तत्तदिन्द्रियद्वारा मनोरथेन आगत्य उपभुंक्ते) ॥ ९ ॥

पदार्थः— (अयम्) यह जो शरीरस्थित जीव है वह (श्रोत्रम्) कानको (चक्षुः) आंखको (स्पर्शनम्) त्वगिन्द्रियको (च) फिर (रसनम्) जिह्वाको (घ्राणम्) नासिकाको (मनः) मनको (च) भी (अधिष्ठाय) आश्रय करके (एव) निश्चित रूपसे (विषयान्) शब्द, रूप, रस इत्यादि विषयोंको (उपसेवते) भोगता है ॥ ९ ॥

भावार्थः— अर्जुननें जो पूछा है, कि यह जीव किस तात्पर्यसे अपने अर्थके साधन निमित्त एकसे निकल दूसरे शरीरमें जाता

है ? उसके उत्तरमें नटवर गिरधारी श्रीरसिकविहारी भगवान् आनन्दकन्द बृजचन्द कहते हैं, कि [**श्रोत्रञ्चक्षुः स्पर्शनञ्च रसनं घ्राणमेव च । अधिष्ठाये मनश्चायम्**] कान, आंख, त्वचा, जिह्वा, नासिका तथा इनके साथ मनको भी अपने साथ लेकर यह शरीरधारी जीव इनका अधिष्ठाता बनाहुआ सबको अपने-अपने व्यापारमें लगायेहुए एक शरीरसे निकलकर दूसरे शरीरमें जा [**विषयानुपसेवते**] शब्द, रस, रूप, स्पर्श, गन्ध इत्यादि विषयोंको सेवन करता है अर्थात् मायाके वशीभूत होकर विषयोंको भोगने लगजाता है ।

भगवान्के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि यथार्थदृष्टिसे देखनेमें तो न मेरा कोई अंश है, न कहीं जाता है और न कहीं आता है पर भ्रमात्मकदृष्टिमें मेरा अंश बनकर जीव भी कहलाता है और एक शरीरसे निकल दूसरे शरीरमें जाताहुआ भी देख पडता है तहां अपने संग इन्द्रियोंको तथा पांचों प्राणोंको अन्तःकरणके साथ लियेहुए सबका अधिष्ठाता अर्थात् स्वामी बनाहुआ सबोंको अपनेअपने व्यापारमें लगा सबोंसे विषयोंको भोगता है अर्थात् कानोंके द्वारा नाना प्रकारके बाजाओंकी सुरीली ध्वनिसे उन्मत्त हो परम आनन्दको प्राप्त होता है । इसी प्रकार नेत्रोंसे सुन्दर रूपवती वारांगनाओंकी भडकीली सुन्दरताके वशीभूत हो हृदयमें विषयानन्दकी अनगिनत हिलोर लेताहुआ अपनेको धन्य मानता है । ऐसे ही त्वचासे शरत्‌की शीतल इन्दुप्रभापूर्णयामिनीमें अपनी रमणीके चिक्कण अंगोंसे आलिंगन, चुम्बन, संघर्षण इत्यादि द्वारा परम

सुखको प्राप्त करता है। फिर रसना इंद्रिय द्वारा सुस्वादु अन्न, दही मक्खनका स्वाद लेताहुआ अमृतपानके समान सुख अनुभव करता है तथा घ्राण द्वारा नाना प्रकारके बेली, चमेली, जूही, गुलाब, मालती इत्यादि सुगन्धित पुष्पोंको सूंघताहुआ आनन्द लाभ करेता है, पर यह जीव केवल इन इंद्रियों द्वारा भोगनेको समर्थ नहीं होसकता जब तक अन्तःकरणका साथ न हो। इसी कारण यह चतुर जीव इनके राजा मनको भी अपने साथ करलेता है तथा प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान इन पांचों प्राणोंको भी संगी बनालेता है क्योंकि इन मन और प्राणोंके संग बिना केवल इंद्रियोंके द्वारा विषयोंके भोगनेमें समर्थ नहीं होसकता।

भगवान्ने जो पिछले ७ वें श्लोकमें केवल "मनः षष्ठानीन्द्रियाणि" कहा है वह १६ प्रकारके मुखोंका अर्थात् शरीरके १६ अवयवोंका उपलक्षण है। अर्थात् दशों इन्द्रियां, चारों अन्तःकरण और पांचों प्राण ये सब मिलकर १६ मुख कहेगये हैं उन्हीं १६ मुखोंसे यह जीव सब स्थूल पदार्थोंको जाग्रत अवस्थामें भोगता है। और स्वप्नमें इंद्रियों सहित बाहरकी स्थूल वस्तुओंको खैंचकर सूक्ष्म अवस्थाकी ओर लेजाता हैं. तो इस उदाहरणसे सिद्ध होता है, कि इस जीवको इस बातकी ऐसी शक्ति मिलीहुई है, कि जाग्रतकी अवस्थासे इंद्रियों सहित वस्तुतस्तुओंको खैंचकर स्वप्नमें लेजावे और फिर स्वप्नसे इनको खैंचकर जाग्रतमें लेआवे। इसी प्रकार इन सबोंको यह एक शरीरसे खींचकर दूसरे शरीरमें भी
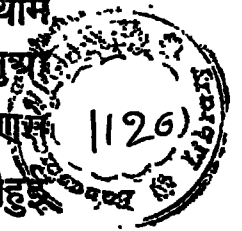
लेजाता है। भगवान्के कहनेका तात्पर्य यह है, कि जब तक इस जीवमें बासना बनी रहती है तब तक यह बेलका मारा बबूल तले और बबूलका मारा बेल तले फिरता है अर्थात् वासनानुसार दुःख, सुखादि भोगनेके निमित्त दौडा फिरता है।

अभिप्राय यह है, कि जब यह जीव इन्द्रियोंको लियेहुए पहले शरीरसे निकल दूसरे शरीरकी ओर चलनिकला तो जानना चाहिये, कि पहला शरीर इसकेलिये स्वप्नतुल्य होगया और पिछला शरीर जाग्रतके तुल्य हुआ एवम्प्रकार एकके पीछे दूसरा शरीर धारण करता हुआ आगे बढता जाता है मानों एकके पश्चात् दूसरा स्वप्ने देखताहुआ तथा जागताहुआ चलाजाता है पर जब तक यह जीव इस दशामें पडारहता है उसे भ्रमात्मक समझना चाहिये।

भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! यह मेरी माहेश्वरी माया जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको नचा रही है ऐसी दुर्जया है, कि इसके कारण सारा ब्रह्माण्ड भ्रमताहुआ देखपडता है। जैसे लडके आप खेलमें चक्कर खातेहुए सारा ब्रह्माण्डको फिरते देखते हैं ऐसे यह जीव माया के चक्करसे स्वयं भ्रमताहुआ सारे ब्रह्माण्डको चक्कर खाताहुआ देखता है। पर सच पूछो तो कहीं कुछ भ्रमता नहीं पर देखनेवाला आप भ्रम रहाहै इसलिये पृथ्वीसे आकाश तक भ्रमताहुआ देखता है। जैसे एक ही घरमें एक ही खाटपर शयन कियेहुआ प्राणी जागृत और स्वप्न दोनों अवस्थाओंको प्राप्त होता है अर्थात् उसी खाटपर जाग भी जाता है और स्वप्न भी देखता है पर यथार्थमें कहीं आता

जाता नहीं। परन्तु खाट हीपर पडाहुआ काशी प्रयाग इत्यादि नगरों को जाकर फिर लौट आयाहुआ जानपडता है। इसी प्रकार विषय-भोगके प्रयोजनसे एक शरीरसे दूसरे शरीरमें इसका आनाजाना सिद्ध होता है।

इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि यह जीव केवल विषयके भोग उपभोग निमित्त श्रोत्र चक्षु इत्यादि इंद्रियोंको मनके आश्रय कर इधर-उधर शरीरोंमें स्वप्नवत् उत्क्रमण और प्रवेश करता रहता है ॥ ९ ॥

इन कठिन और गूढ़ वार्ताओंको साधारण नहीं समझ सकते केवल आत्मदर्शी ही समझ सकते हैं। इसीको भगवान् अगले श्लोकमें दरसाते हैं।

मू०—उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुंजानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यंति पश्यंति ज्ञानचक्षुषः ॥ १०॥

पदच्छेदः— उत्क्रामन्तम् (परित्यजन्तम्। पूर्वशरीरं विहाय शरीरान्तरं गच्छन्तम्) वा, स्थितम् (तिष्ठन्तम्) वा (अथवा) भुञ्जानम् (शब्दादींश्चोपलभमानान्। विषयान् सेवमानान्) गुणान्वितम् (सुखदुःखमोहाख्यै र्गुणैः संयुक्तम्) अपि, विमूढाः (दृष्टादृष्टविषयभोगवासनाकृष्टचेतस्तयात्मानात्मविवेकायोग्याः। बहिर्दृष्टयः। पामराः) न, अनुपश्यन्ति (अवलोकयन्ति) ज्ञानचक्षुषः (न्यायानुगृहीतशास्त्रजन्यमात्मदर्शनसाधनं चक्षुर्येषां ते। विवेकिनः) पश्यन्ति (साक्षात्कुर्वन्ति) ॥ १० ॥

पदार्थः— (उत्क्रामन्तम्) एक शरीरसे निकलकर दूसरे शरीरकी ओर जाते हुए (वा) अथवा (स्थितम्) उसी शरीरमें ठहरे हुए (वा) अथवा (भुंजानम) विषयोंको भोगते हुए तथा (गुणान्वितम्) तीनों गुणोंके फल सुख दुःख मोह इत्यादिसे युक्त होतेहुए (अपि) भी (विमूढाः) अज्ञानी मूढ (नानुपश्यन्ति) इसके गुप्तभेदको नहीं देखसकते किन्तु (ज्ञानचक्षुषः) जो ज्ञानके नेत्रवाले विवेकी हैं वे ही (अनुपश्यन्ति) इस आत्माके यथार्थ तत्वको देख सकते हैं ॥ १० ॥

भावार्थः— पापतापनिकन्दन भक्तजनमनरंजन श्रीनंदनन्दन भगवान् कृष्णचन्द्र जो पहले कह आये हैं, कि इस जीवका निकलना वा प्रवेश करना मायाकृत है यथार्थ नहीं है इस विषयको कौन प्राणी यथार्थरूपसे जान सकता है और कौन नहीं जान सकता है ? सो स्पष्ट करेते हुए कहते हैं, कि [उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् । विमूढा नानुपश्यन्ति] इस जीवका एक देहसे उत्क्रमण करना, दूसरेमें जाकर स्थित होजाना, शरीरोंके दुःखसुखको भोगना और तीनों गुणोंसे युक्त होजाना इत्यादि सूक्ष्म वार्त्ताओंको मूढ़ पुरुष नहीं देखसकते हैं अर्थात् पहले जो १९ मुख कथन करआये हैं उन इन्द्रियादिक उन्नीसों मुखोंको साथ २ खैंचे हुए एक शरीरसे निकलकर दूसरेमें स्थित होकर इन्द्रियोंका और अन्तःकरणका अधिष्ठाता बनकर उनके विषयोंका भोगना फिर तीनों गुणोंकी वृद्धिके कारण सुखदुःखमें प्राप्त होना जो मायाकृत विस्तार है तिसको सत्संगरहित और विवेकहीन नहीं

अनुभव करसकते । क्योंकि वे यों नहीं समझ सकते हैं, कि इस जीवका उत्क्रमण करना वा स्थित होना मायाकृत है सत्य नहीं है। यह मायाकृत सृष्टि जो मिथ्यारूपसे वर्त्तमान है उसमें यह जीव कैसे इस मनुष्य शरीरसे निकलकर दूसरे शरीरमें जाता है? तिसका भी बोध नहीं है।

पूर्व अ० २ श्लो० २२ में जो पञ्चाग्निविद्या दिखला आये हैं जिससे इस जीवका उत्क्रमण, गति, प्रतिष्ठा, तृप्ति, पुनरागमन इत्यादिका पता चलता है उसको भी समझना मूढोंकेलिये दुस्तर है तो भला कब ऐसा होसकता है, कि इस आत्माके यथार्थ रूपको वे समझ सकें। इसी कारण भगवान् उनके विषय कहते हैं, कि मूढ पुरुष इस विषयको नहीं समझ सकते। तब वे कौन हैं जो इसे साक्षात्कार करते हैं? तो कहते हैं, कि [पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः] जो ज्ञानके नेत्रवाले हैं वे इस भेदको समझ सकते हैं अर्थात् जिनकी बुद्धि गुरुकृपाद्वारा तथा गूढ सत्संगद्वारा परम कुशाग्र होरही है वे ही इस वार्त्ताको समझसकते हैं, कि भगवतका कोई अंश नहीं होता और न कहीं किसी इन्द्रियको लेकर जाता आता है वरु एक आत्मा परिपूर्ण सर्वत्र एकरस ज्योंका त्यों व्यापरहा है और जीवोंका आना जाना विषय भोगना सब मायाकृत भ्रमात्मक बोध है। प्रमाण श्रुतिः— "ॐ सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्य्येण नित्यम्"

(मुण्ड० ३ खं० १ श्रुति ५)

अर्थ— यह आत्मा केवल सत्य बोलनेसे, तपसे (मन और इन्द्रियोंके एकाग्र करनेसे) ज्ञानसे, तथा ब्रह्मचर्य्यसे लब्ध होता

है। सो ये गुण भी कैसे होने चाहियें? तो नित्य अर्थात् सर्वदा जीवन पर्य्यन्त एकरस होना चाहिये तब वह आत्मज्ञानका जिसके प्रकाशसे मायाकृत अन्धकार नष्ट होता है इस जीवको साक्षात्कार होता है और ब्रह्मरूप ही देखपडता है। तात्पर्य्य यह है, कि तब ही यह अपने परमधामको पहुंचता है। इसी कारण भगवान् इस गीतामें बार-बार कहते चले आते हैं, कि इस तत्वको वे ही जानते हैं जिनके विवेक और वैराग्यके नेत्र खुले हैं तथा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य इत्यादि साधनोंमें नित्य तत्पर हैं ॥ १० ॥

इसी विषयको अगले श्लोकमें और भी स्पष्ट करके कहते हैं—

मू०— यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११

पदच्छेदः— यतन्तः (ध्यानादिभिः प्रयत्नं कुर्वन्तः) योगिनः (समाहितचित्ताः) च, आत्मनि (स्वबुद्धौ । ब्रह्मणि) अवस्थितम् (महाकाशे घटाकाशमिवैक्येन वर्तमानम्) एनम् (विभुमुत्क्रामन्त्यादिहीनमसंगं स्वात्मानम्) पश्यन्ति (साक्षात्कुर्वन्ति) अकृतात्मनः (असंस्कृतात्मनः । अविशुद्धचित्ताः) अचेतसः (अविवेकिनः । मन्दमतयः । पाषाणतुल्याः) यतन्तः (शास्त्राभ्यासादिभिः प्रयत्नं कुर्वाणाः) अपि, एनम (आत्मानम्) न पश्यन्ति (न साक्षात्कुर्वन्ति) ॥ ११ ॥

पदार्थः— (यतन्तः) ध्यानादि द्वारा यत्न करनेवाले (योगिनः) योगी जन (च) भी (आत्मनि) अपने अन्तःक-

रणमें (अवस्थितम्) वर्तमान (एनम्) उत्क्रमादिसे रहित असंग इस आत्माको (पश्यन्ति) साक्षात करते हैं पर (अकृतात्मानः) जो अशुद्ध अन्तःकरणवाले हैं तथा (अचेतसः) अविवेकी हैं और मन्दमति हैं वे (यतन्तः) शास्त्राभ्यासादि द्वारा नाना प्रकारे यत्न करतेहुए (अपि) भी (एनम्) उक्त प्रकार संगरहित इस आत्माको (न पश्यन्ति) नहीं देखते अर्थात नहीं जानसकते ॥ ११ ॥

भावार्थः—अलख अविनाशी सर्व घटवासी श्रीआनन्दकन्द, कृष्णचन्द्र पूर्वश्लोकमें कथनकियेहुए विषयको अधिक स्पष्टरूपसे दिखलानेके तात्पर्यसे कहते हैं, कि [**यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्**] जो योगी लोग ध्यानयोग इत्यादिके निमित्त तथा आत्मज्ञानकी प्राप्ति निमित्त गुरूपदेश द्वारा श्रवण, मनन, निदिध्यासन इत्यादि साधनोंका अभ्यास विधिपूर्वक करतेहुए आस्तिक्यबुद्धि तथा शुद्ध अन्तःकरणसे भगवत्परायण होकरे केवल भागवतकर्मोंके साधनमें तत्पर रहते हैं वे ही यों समझ सकते हैं, कि यह आत्मा (जीव) उस ब्रह्ममें सदा अवस्थित है उससे विलग क्षणमात्र भी नहीं होता केवल अन्तःकरणकी उपाधि द्वारा थोडी देर के लिये यह विलग हुआसा देख पडता है पर यथार्थमें कभी विलग न हुआ, न होता है और न होगा । यह सदा आप अपनेमें वर्तमान है अथवा यों कहलीजिये, कि सदा अपने स्वरूप ब्रह्मत्वमें वर्तमान है । इस प्रकार यत्नशील प्राणी इसको उत्क्रमण इत्यादि उपाधियोंसे रहित देखते हैं ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि संयमितचित्तवाले योगीजन आप को अपनेमें स्थित देखते हैं पर [यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः] ऐसे यत्न करनेवालोंमें भी जो अकृतात्मा हैं अर्थात् अविशुद्धचित्त हैं, जिनका अन्तःकरण मल, विक्षेप और आवरणोंसे शुद्ध नहीं हुआ है तथा जो अचेतस हैं, पाषाणके समान हैं तत्वोंको नहीं समझ सकते उनको इस विषयका यथार्थ बोध नहीं होता। इसीलिये भगवान् पहले भी अ० ७ श्लोक १९में कह-आये हैं, कि " बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते " ज्ञानवान् भी कई जन्मोंके यत्न करनेके पश्चात् मेरेको प्राप्त होता है अर्थात् यह मेरा आत्मज्ञान इतना सुलभ नहीं है, कि झट आज ही शास्त्रोंको हाथमें लिया और यथार्थ तत्वको जानगये ऐसा नहीं वह कई जन्म परिश्रम करते-करते जब अनेक जन्मोंकी सिद्धि एकत्र होती है तब परमतत्त्वकी पहचान होती है।

अतएव भगवान्का ऐसा कहना, कि अकृतात्मा यत्न करतेहुए भी इस आत्माके यथार्थ रूपको नहीं देखते असंगत नहीं है सांगो-पांग सत्य है ॥ ११ ॥

भगवानने जो यह अध्याय आरम्भ करतेहुए इस संसाररूप अश्वत्थ वृक्षकी पहचान करनेवालोंके विषय ऐसा कहा, कि इस वृक्ष को छेदनकर उस मेरे परमधामको पहुंचना चाहिये जहां सूर्य, चन्द्र इत्यादि प्रकाश नहीं करसकते पर तिस परमधाममें पहुंचनेका यथार्थ अर्थ मध्यमें इस ११ वें श्लोक तक कथन करदिया। अब पुनः लौटकर अपने उसी विषयपर पहुंचकर कहते हैं।

मू०— यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥
॥ १२ ॥

पदच्छेदः— आदित्यगतम (सूर्याश्रयम् । सूर्यमण्डलान्तर्वर्त्ति) यत, तेजः (दीप्तिः । चैतन्यात्मकं ज्योतिर्वा । अवभासकम) चन्द्रमसि (चन्द्रे) च, यत (प्रकाशकरं तेजः) अग्नौ (हुतवहे) च, यत (दाहकं सामर्थ्यम) अखिलम् (स्थावरजंगमात्मकं समस्तं) जगत (भुवनम) भासयते (प्रकाशयति) तत, तेजः (सर्वावभासकं ज्योतिः) मामकम् (मदीयम) विद्धि (जानीहि).
॥ १२ ॥

पदार्थः— (आदित्यगतम) सूर्य्यमण्डलमें स्थित (यत) जो (तेजः) दीप्ति है वा चैतन्यात्मक ज्योति है तथा (चन्द्रमसि) चन्द्रमामें (च) भी (यत्) जो प्रकाशकरनेवाली वा चैतन्यात्मक ज्योति है फिर (अग्नौ) अग्निमें (च) भी (यत) जो दाहिकाशक्ति वा चैतन्यात्मक ज्योति है जो (अखिलम) सम्पूर्ण (जगत्) जगतको (भासयते) प्रकाश करनेवाली है (तत्तेजः) तिस ज्योतिको हे अर्जुन ! (मामकम) मेरा ही प्रकाश (विद्धि) जान ! अर्थात ये सब मुझहीसे प्रकाशमान हैं ऐसा जान ! ॥ १२ ॥

भावार्थः— सभी विद्वान जानते हैं, कि श्रीआनन्दकन्द कृष्णचन्द्रने जो यह गीताशास्त्र अर्जुनके प्रति प्रकट किया तिसमें

जितने सारतत्व हैं वे उपनिषदोंसे लियेगये हैं। तहां इस १५ वें अध्यायमें संसारसे विरक्त होजानेके प्रयोजनसे इसको एक नश्वर वृक्ष अर्थात् अश्वत्थवृक्ष निरूपण करे इसे असंगरूप शस्त्रसे छेदनकर अपने परमधाम तक पहुंचनेका यत्न बताया अब फिर उसी अपने धामकी स्तुति जो शेष रहगयी थी उसे वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [यदादित्यगतं तेजो जगद्भासतेऽखिलम्] जो इस सूर्यमें तेज है जिससे सारा जगत् प्रकाशित होरहा है तथा [यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्] जो दीप्ति चन्द्रमामें है फिर जो दाहक तेज अग्निमें है इन सबको हे अर्जुन! तू मेरा ही तेज जान! अथवा इसका आध्यात्मिक अर्थ यों भी कर लीजिये, कि जो चैतन्यात्मक ज्योति इन सूर्य्य, चन्द्र और अग्निमें है जिससे सारे जगत्के जीव चैतन्य होरहे हैं उसको हे अर्जुन! तू मेरा ही तेज जान।

यहां तेज शब्दसे नाना प्रकारके अभिप्राय हैं प्रथम तो सामान्य अर्थ यही है, कि यह जो प्रकाश अन्धकारका नाश करनेवाला है जिससे सारा जगत् प्रकाशमान होरहा है जिसके उदय होनेसे हम लोग अपना सारा व्यवहार करते हैं जिसके लिये सूर्य्यदेवकी स्तुति वेदने भी यों की है, कि "ॐ उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः दृशे विश्वाय सूर्य्यम्" (शुक्लयजुर्वेद अ० ३१ मं० ३२) अर्थात् उस जगत्के जाननेवाले सर्वज्ञ प्रकाशमान सूर्य्यको उनकी किरणें सम्पूर्ण जगत्के पदार्थोंको, सर्वप्राणियोंके दिखानेके लिये निश्चय करके ऊपरको आकाशमें ले चलती हैं। इसी विषयको

भगवान्‌ने भी इस श्लोकमें कहा है, कि जिस तेजसे अखिल जगत्‌ प्रकाशित होता है उस तेजोमय सूर्य्यको मेरा ही प्रकाश जानो।

फिर भगवान्‌ कहते हैं, कि चन्द्रमामें जो तेज है उसे भी मेरा ही तेज जानो। यद्यपि चन्द्रमाको अपना तेज नहीं है सूर्य्यसे तेज उसमें जाता है तथापि सूर्य्यकी किरणोंसे युक्त होकर जो चन्द्रमामें एक सुहावनी परम मनोहर चित्तको प्रसन्न करनेवाली शीतल-ज्योति उत्पन्न होती है जो चन्द्रमामें स्थित अमृतरसको किरणों द्वारा पृथ्वी पर पहुंचकर अन्नोंनें डाल देती है उस ज्योतिको भी मेरा ही प्रकाश जानो।

शंका— चन्द्रमामें जो प्रकाश है वह सूर्य्यसे आता है इसका क्या प्रमाण है?

समाधान— "तरणिकिरणसंगादेष पीयूषपिण्डो दिनकरदिशि चन्द्रश्चन्द्रिकाभिश्चकास्ति। तदितरदिशिवालाकुन्तलश्यामलश्रीर्घट इव निजमूर्त्तेश्छाययैवातपस्थः" (सूर्य्यसिद्धान्तका वचन है) अर्थ— यह चन्द्र जो अमृतका एक पिण्ड है वह सूर्य्यकी ओर सूर्य्यकी किरणोंसे प्रकाशित रहता है अर्थात्‌ चन्द्रमाका जितना भाग सूर्य्यके सम्मुख पडता है उतना भाग तो चांदनीसे प्रकाशित रहता है पर जो भाग सूर्य्यके सम्मुख नहीं पडता उतने भागमें स्त्रियोंके श्यामकेशके समान श्यामता भासती है। जैसे किसी एक घडेको प्रातःकाल आंगनमें रखदो तो जितना भाग पूर्वकी ओर है उतनेमें सूर्य्यका प्रकाश पडेगा शेष भागमें प्रकाश नहीं पडेगा इसी प्रकारे चन्द्रमाको भी समझो।

अब भगवान् कहते हैं, कि " यच्चाग्नौ " अग्निमें जो प्रकाश है उसे भी मेरा ही प्रकाश जानो इस प्रकाशसे भी जगत्का बहुत कुछ व्यवहार चलरहा है सो अग्नि भी सर्वत्र व्यापक है जहां जिस वस्तुमें चाहो घिसकर देखलो। अग्निदेव भी कई प्रकारसे इस जगत्का उपकार कररहा है। अग्निसे यज्ञ, तिस यज्ञसे धूम, धूमसे मेघमाला, तिससे वर्षा, तिससे अन्न और तिससे शरीरकी सब इंद्रियोंमें प्रकाश उत्पन्न होता है

फिर यही अग्नि है जो सारे शरीरमें जीवनका कारण है अग्निरहित शरीर हुआ और उसी क्षण मृतक होगया। इससे सिद्ध होता है, कि अग्नि भी भगवत्का प्रकाशस्वरूप है।

फिर जठराग्नि भी अग्नि है जो अन्नको अपनी दाहिकाशक्ति से पचाकर शरीरमें रुधिर इत्यादि बनाकर शरीरकी रक्षा करती है। यदि अग्नि पाक न बनादे और पेटमें न पकादे तो शरीरमें जितनी इंद्रियां हैं सब व्यर्थ होजावें। इसी कारण भगवानने भी इस अग्निको अपना तेज ही कथन किया है।

अब इस श्लोकका आध्यात्मिक अर्थ सुनो! तेज कहनेसे भगवानका अभिप्राय चैतन्यात्मक-ज्योतिसे है अर्थात् भगवत्के इस ज्ञानमय प्रकाश द्वारा सब जीवोंमें तथा अखिल जगत्के सब पदार्थोंमें चेतनता प्रवेश कियेहुई है और जिस चेतन तेजके द्वारा चक्षु इत्यादि इंद्रियोंमें अपने-अपने विषयोंके ग्रहण करनेकी शक्ति उत्पन्न होरही है अर्थात् जब तक वह तेज इस शरीरके बाहर

भीतर वर्त्तमान रहता है तबतक दशों इंद्रियां और चारों अन्तःकरण अपने-अपने कार्यमें प्रवृत्त रहते हैं। क्योंकि वह तेज चक्षुका भी चक्षु है श्रोत्रका भी श्रोत्र है। प्रमाण श्रु०—" **श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः**" (केन० श्रु० २)

अर्थ— जो चेतनात्मकज्योति कानका भी कान है, मनका भी मन है और जो वचनका भी वचन है वही प्राणका भी प्राण है अर्थात् उसी एक आत्मज्योतिसे इन सब इंद्रियोंको प्रकाश मिलरहा है।

केवल चेतन पदार्थों ही में नहीं वरु जड़ पदार्थोंमें भी जो प्रकाश है जैसे बेली, चमेली, जुही, गुलाब, मालती, रूपमंजरी, मौलसरी इत्यादि पुष्पोंमें जो नाना प्रकारके सौन्दर्य, विचित्रता तथा नाना प्रकारकी सौरभपूर्ण गन्ध है सो सब उसी चैतन्यात्मकज्योतिका प्रकाश है। हीरा, लाल, पन्ना, मुक्ता, फिरोजा, नीलम, पुखराज इत्यादि रत्नोंमें जो चमक-दमक और प्रकाश है सब उसी चैतन्यात्मक ज्योतिका प्रकाश है। इसी प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके जड़ चेतन पदार्थोंमें उसी एकका प्रकाश फैलाहुआ है।

शंका— जब उसका तेज साधारण प्रकाशरूपमें हो चाहे चैतन्यात्मकरूपमें हो सर्वत्र सब पदार्थोंमें फैलाहुआ है तो क्या कारण है, कि उसका प्रकाश सूर्य चन्द्र अग्निमें, भिन्न-भिन्न धातुओंमें और हीरा, लाल, मोती इत्यादिमें अधिक भासरहा है और वही प्रकाश मिट्टी, पत्थर, काष्ठ इत्यादि अनेक पदार्थोंमें नहीं देखपड़ता? समझाकर कहो।

समाधान— इस विश्वमें चाहें जड हों वा चेतन जितनी वस्तुओंकी रचना हुई है सब रज, सत्वादि तीनों गुणोंके मेलसे हुई है . परे भेद इतना ही रहा है, कि जिन पदार्थोंमें सत्वगुणकी अधिकता है उनमें प्रकाश तथा चैतन्य विशेषरूपसे निवास करताहुआ प्रकट देखपडता है पर जितनी वस्तुओंमें रजोगुण और तमोगुणकी अधिकता है उनमें प्रकाश मन्द देखपडता है । जैसे कोई किसी दीवाल, पर्वत वा काष्ठके सम्मुख जाकर खडा होजावे तो उसका मुख उनमें नहीं देखपडेगा पर यदि किसी काच, हीरा इत्यादि रत्न वा जलके समीप जाकर खडा होजावे तो उनमें उसका मुख स्वच्छ देखपडेगा ।

इसी कारण भगवानने अपने तेजको सूर्य, चन्द्र और अग्निमें विशेषरूपसे दिखलादिया है । शंका मत करो !

इस श्लोकमें जो भगवान्ने कहा, कि आदित्यमें, चन्द्रमामें वा अग्निमें जो तेज है उसे हे अर्जुन ! तू मेरा ही तेज जान ! तिसका अर्थ सर्वसाधारणके कल्याणनिमित्त यहां एक दूसरे प्रकारसे करदिया जाता है ।

सर्वशास्त्रवेत्ता बुद्धिमानोंपर तथा योगियोंपर प्रकट है, कि इस शरीरमें ईडा, पिंगला और सुषुम्णा तीन मुख्य नाडियां बनी हुई हैं जिनके द्वारा प्राणी श्वासोच्छ्वास करता हुआ जीवित रहता है । यदि इन नाडियोंमें चैतन्यात्मक ज्योतिका प्रकाश न होवे तो इनमें जो श्वासोच्छ्वासकी शक्ति है (जिससे यह जड-शरीर चेतन हो भासता है) एक वारगी नष्ट होजावेगी ।

ईडा, पिंगला और सुषुम्णा ये तीनों चन्द्र, सूर्य्य और अग्नि नाडीके नामसे प्रसिद्ध हैं तहां ईडा चन्द्राधिष्ठिता कही जाती है, पिंगला सूर्य्याधिष्ठिता और सुषुम्णा सूर्य्यचन्द्रअग्न्यधिष्ठिता कहीजाती है। तात्पर्य्य यह है, कि इन तीनों नाडियोंके सूर्य्य, चन्द्र और अग्नि ये ही तीनों अधिष्ठातृ देव हैं। प्रमाण— "मेरौ वाह्यप्रदेशे शशिमिहिरशिरे सव्यदक्षे निषण्णे, मध्ये नाडी सुषुम्णा त्रितयगुणमयी चन्द्रसूर्य्याग्निरूपा। धुस्तूरस्मेरपुष्पग्रथिततमवपुः स्कन्धमध्याच्छिरस्था, वज्राख्या मेढ्रदेशाच्छिरसि परिगता मध्यमेऽस्या ज्वलन्ती" (षट्चक्रनिरूपण नाडीवर्णन)

अर्थ— इस शरीरमें मेरुदण्ड जो पीठकी रीढ है (वाह्यप्रदेश) उसकी बांयी और दायीं ओर चन्द्र और सूर्य्यसे अधिष्ठित दो नाडियां ईडा और पिंगला नामकी बनी हुई हैं फिर इसी मेरुदण्डके बीचमें सुषुम्णा नामकी एक नाडी है जो सत्व, रज और तम तीनों गुणोंसे युक्त अथवा तीन गुणकी रज्जु ऐसी लिपटी हुई चन्द्र, सूर्य्य और अग्निकरके अधिष्ठित परम प्रकाशस्वरूप है। यह सुषुम्णा धतूरेके फूलके समान खिली हुई मूलद्वारेसे निकलकर दोनों कन्धोंके बीच होतीहुई मस्तकमें सहस्रदलतक चली आयी है, इस सुषुम्णाके बीचमें भी एक और नाडी है जिसे वज्राके नामसे पुकारते हैं वह अत्यन्त प्रकाशमान लिंगदेशसे निकलकर चमकती हुई मस्तकतक लगरही है। ये तीनों नाडियां चौरासीलक्ष योनियोंमें वर्त्तमान हैं। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि यह जो मेरी चैतन्यात्मकज्योति है सो चन्द्र, सूर्य्य और अग्नि अर्थात् ईडा, पिंगला और सुषुम्णा तीनोंमें व्याप रही है अतएव हे अर्जुन! इन तीनोंके तेजको मेरा ही तेज जान!।

फिर यह भगवानका तेज रूपवानोंमें सुन्दरताका भी मुख्य कारण है अर्थात इस जड पञ्चभूतके शरीरपर जो छबि है जिस छबिको देख सहस्रों प्राणी मोहित होजाते हैं वह उसी आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रका तेज है ॥ १२ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें इसी अपने तेजकी व्यापकताका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—

मू०— गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥

पदच्छेदः— च (तथा) अहम (वासुदेवः) ओजसा (बलेन । धारणाशक्त्या) गाम् (पृथ्वीम्) आविश्य (प्रविश्य) भूतानि (चराचराणि) धारयामि (धरामि) च (पुनः) रसात्मकः (जलात्मकः । अमृतमयः) सोमः (ओषधिपतिश्चन्द्रः) भूत्वा, सर्वाः (समस्ताः) ओषधीः (ब्रीहियवाद्याः) पुष्णामि (अमृतसूविकिरणैः संवर्द्धयामि) ॥ १३ ॥

पदार्थः— (च) तथा (अहम्) मैं जो चैतन्यात्मक ज्योतिःस्वरूप वासुदेव सो (ओजसा) अपने बलसे (गाम) इस पृथ्वीमें (आविश्य) प्रवेश करके (भूतानि) सब चराचरको (धारयामि) धारण करता हूं अर्थात् अपने २ ठौरपर यथायोग्य स्थिर रखता हूं (च) पुनः (रसात्मकः) जलात्मक (सोमः) अमृतरस (भूत्वा) होकर (सर्वाः) सम्पूर्ण जगत्की (औषधीः) भिन्न-भिन्न वनस्पति इत्यादिको (पुष्णामि) पुष्ट करता हूं ॥ १३ ॥

भावार्थः— अगम अखिलेश भगवान् ब्रजेशने जो पहले यों कहा है, कि मेरा ही चैतन्यात्मक प्रकाश सूर्य्यादिको तथा अखिल जगत्को प्रकाशमान कररहा है इसी विषयको पूर्णप्रकार विलग २ समझानेके लिये भगवान् अपनी विशेष शक्तियोंका वर्णन करते हुए कहतेहैं, कि [गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा] मैं उसी अपने चैतन्यात्मक प्रकाशके बलसे इस पृथ्वीमें प्रवेशकर जितने जड चेतन पदार्थ हैं सबोंको धारण करता हूं अर्थात् जो वस्तु जिस प्रकार रूपात्मक वा गुणात्मक है तदाकार होकर मैं उसमें प्रवेश कर उसकी स्थितिपर्य्यन्त उसमें निवास करता हूं भगवान्का यह वचन सांगोपांग योग्य और यथार्थ देख पडता है। मूर्खोंके लिये तो इस वचनका मर्म समझना कठिन है पर विद्वानोंकी दृष्टिमें यह वचन यांथातथ्य देख पडता है। क्योंकि यदि स्वयं वह महाप्रभु सर्वशक्तिमान् जगदाधार अपने तेजसे इस पृथ्वीमें प्रवेशकर अपनी शक्ति द्वारा इसे धारण न करे तो इस एक मूठी रेतीका क्या कहीं पता लगसकता है? किसी सागरके किनारे जा देखो तो प्रत्यक्ष देखनेमें आवेगा, कि समुद्रका जल पर्वतके समान पृथ्वीके ऊपर चढाहुआ देखपडता है और यह पृथ्वी समुद्रके किनारे ऐसी देख पडती है, कि एक अत्यन्त नीचे गडहेमें पडी हो। यूरोपमें एक मुल्कका नाम होलैण्ड है जिसकी चारों ओर समुद्रका जल ऐसा उठा हुआ देखपडता है, कि मानों उसकी पृथ्वी जलके भीतर है। वहांके रहनेवाले प्रतिवर्ष एक लकडीकी दीवाल बना नगरकी चारों ओर लगादेते हैं जिससे पानी भीतर न आने पावे पर जिस समय भगवान् अपना तेज उस पृथ्वीसे

बाहर निकाल लेवेंगे सारा देश जलके भीतर चला जावेगा कहीं कुछ भी पता नहीं लगेगा। यदि क्षणमात्रके लिये समुद्र चारों ओरसे बढ जावे तो पृथ्वी उसके पेटमें जाकर ऐसे गलजावेगी जैसे एक मुट्ठी रेती एक घडे जलमें गलजाती है पर वाह्रे तेरी कारीगरी! वाह्रे तेरी परम विचित्र महिमा! जिसने एक मूठी रेतीको इतने गंभीर जलके ऊपर ऐसी दृढतासे धारण कररखा है, कि यदि लाखोंबारे भाठाज्वार लग-जावे तो भी पृथ्वी ज्योंकी त्यों वर्त्तमान रहती है। फिर जब उसी महा प्रभुकी इच्छा होगी तो अपने बलको खैंच प्रलय करदेगा और इस एक मूठी रेतीका कहीं कुछ भी पता नहीं लगेगा। इतना ही नहीं वरु भगवान कहते हैं कि इस सम्पूर्ण पृथ्वीको सागरोंके सहित जिसे भूमण्डलके नामसें पुकारते हैं मैं अपने बलसे धारण किये हुए हूं यदि ऐसा न करूं तो सारा भूमण्डल न जाने नीचे गिरते २ कहां चला जावे वा टुकडे टुकडे होकर आकाशमें फैल जावे इसके परमाणु सब बिखर जावें और सारा खेल ही बिगड जावे।

फिर भगवान कहते हैं, कि [पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः] मैं केवल इस भूमण्डलको धारणमात्र ही नहीं करता हूं वरु इस पृथ्वीमें जितनी औषधियां हैं अर्थात शालि, गोधूम, यव इत्यादि अन्न पनस, रसाल, आम्रादि नाना प्रकारके फल बेली, चमेली, जुही इत्यादि नाना प्रकारके पुष्प अनन्तमूल, एला, कचनार, खस, ग्वारपाठा, घिया, चीता, छतौना, जटामांसी, झाड, टेसू, डाभ, ढाक, ताम्बूल, थूहर, दालचीनी, धनियां, नकुल-कन्द, परवल, फलप्रियंगू, ब्राह्मी, भांग, महावर, यष्टिमधु, रतनजोत,

लताकस्तूरी, शंखपुष्पी, सम्हालू, हरड, क्षीरविदारी इत्यादि रोग नाशक ओषधियोंको मैं (रसात्मक) अमृतस्वरूप होकर पुष्ट करता हूं तथा उनकी वृद्धि करता हूं।

इनके देखनेसे यही श्रुति स्मरण होआती है- " ॐ तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् "। अर्थात् वह परब्रह्म जगदीश्वर वस्तुओंकी रचना कर तदाकार हो प्रवेश करगया है। सो भगवान् पहले ही अर्जुनके प्रति कहआये हैं, कि " मूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः " इस वचनका प्रयोग यहां भी करना चाहिये।

शंका— यव, गोधूम, आम, लीची, नींबू, सेव, अंगूर, नाशपाती, छोहारा इत्यादि औषधियोंमें तो भगवान स्वयं स्वादस्वरूप होकर निवास करता है जिनके आहार करनेसे जीवोंको शारीरिक पुष्टि प्राप्त होती है इसलिये भगवान्का इनमें रसात्मक होकर प्रवेश करना तो सार्थक है पर महाकारी, कुचला, जमालगोटा भिलावा, खपडिया, धतूरा, कनेर, अफीम इत्यादि जो विषैली ओषधियां हैं जिनके ग्रहणमात्रसे प्राणी मृत्युको प्राप्त होजाता है तिनमें भगवान्का रसात्मक होकर प्रवेश करना अयोग्य समझा जाता है ऐसा क्यों?

समाधान— परमात्माने जितनी ओषधियोंकी तथा फलफूलोंकी रचना इस पृथ्वीपरे की है सब हानि लाभ दोनोंसे मिश्रित हैं। यदि उनका व्यवहार उचित रीतिसे किया जावे तो वे सब अमृततुल्य हैं और यदि अनुचित रीतिसे कियाजावे तो वे विषके तुल्य होजाते हैं। क्योंकि अनुचित व्यवहारसे अमृत विष होजाताहै और उचित व्यवहारसे विष अमृत होजाता है। जैसे वे ही आम और लीची ज्वरग्रस्त प्राणि-

थोंको दियेजावें तो विषके तुल्य कार्य्य करेंगे और वेही जमालगोटा वा संखिया उत्तम औषधियोंके साथ मिलाकर किसी रोगग्रस्त पुरुषको दियेजावें तो अमृतके तुल्य कार्य्य करेंगे। इसलिये भगवान्‌का सब औषधियोंमें "सोमो भूत्वा रसात्मकः" कहना उचित है। शंका मत करो!

यहां यों भी अर्थ करलेना चाहिये, कि सोम जो चन्द्रमा है वह अमृतका एक पिण्ड है जिसमें अमृत भरा हुआ है सो अमृतस्वरूप साक्षात् वह महाप्रभु स्वयं है जो सोमसे जलधाराके समान सूवता हुआ नीचे सब औषधियोंमें पड़ता है जिससे सब औषधियां वृद्धिको प्राप्त होती हैं और सबोंमें स्वाद प्रवेश करजाता है इस कारण भगवान् कहते हैं, कि हे धनुर्धर पार्थ! सोममें जो अमृत है सो मैं ही हूं ॥ १३॥

भगवान्‌ने इस श्लोकमें जिन औषधियोंका वर्णन किया उनके पचा डालनेकी भी शक्ति अपनेहीको वर्णन करते हुए कहते हैं—

मू०— अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥
॥ १४ ॥

पदच्छेदः— अहम् (वासुदेवः) वैश्वानरः (उदरस्थोऽग्निः। जठराग्निः) भूत्वा, प्राणिनाम् (सर्वेषां प्राणवताम्) देहम् (कार्य्यकरणसंघातशरीरम्) आश्रितः (प्रविष्टः) [सन्] प्राणापानसमायुक्तः (प्राणापानाभ्यां समुद्दीपितः। श्वासोच्छ्वासक्रमेण प्रज्वलितः) चतुर्विधम् (भोज्यभक्ष्यचोष्यलेह्यभेदेन चतुःप्रकारकम्) अन्नम् (भोजनार्हपदार्थम्) पचामि (पक्वं करोमि) ॥ १४ ॥

पदार्थः— (अहम्) मैं वासुदेव (वैश्वानरः) जठराग्निरूप (भूत्वा) होकर (प्राणिनाम्) सब प्राणियोंके (देहम्) शरीरका (आश्रितः) आश्रय करके (प्राणापानसमायुक्तः) प्राण और अपान वायु द्वारा श्वासोच्छ्वास करता हुआ उस जठराग्निको प्रज्वलित कर (चतुर्विधम्) *भोज्य, भक्ष्य, चोष्य और लेह्य इन चारों प्रकारके (अन्नम्) अन्नोंको (पचामि) पकादेता हूं अर्थात् उदरस्थ अन्नको मैं ही पचादेता हूं ॥ १४ ॥

भावार्थः—श्रीगोलोकविहारी जगतहितकारीने जो इस अध्यायके १२ वें श्लोकमें "यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्" ऐसा वचन अर्जुनके प्रति कहा, कि अग्निमें जो तेज है उसे तू मेरा ही जान! इस अर्थको और भी स्पष्टकर अग्नियोंके विभागद्वारा अपने तेजका आध्यात्मिक बल दिखलाते हुए कहते हैं, कि [अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः] जितने देहधारी मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, इत्यादि प्राणवाले हैं उन सबोंके शरीरके भीतर उनकी

* १. भोज्य— जिसको केवल आंधकर मुंहमें डाल जिह्वा द्वारा चबाकर बड़ी सु-मतासे निगलजावे जैसे खिचड़ी।

२. भक्ष्य— जिसे दांतोंके द्वारा टुकड़े २ करना पड़े जैसे रोटी।

३. चोष्य— जिसे दांतोंसे और होठोंसे दबाकर चूसलिया जावे जैसे आम वा नारंगी।

४. लेह्य— उसे कहते हैं जो केवल जिह्वासे चाटा जावे जैसे चटनी।

देहका आश्रय करके तथा [प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्] प्राण और अपानद्वारा सांस लेते हुए अर्थात् भोजनके पश्चात् शयनकर प्राण और अपानके बारंबार संघर्षणसे उस अपने जठराग्नि रूप तेजको भडकाकर भोज्य, भक्ष्य, लेह्य और चोष्य चारों प्रकारके अन्नोंको पचाडालता हूं।

अर्थात् इन अन्नोंके सारांशको रुधिर बनांकर सम्पूर्ण शरीरमें फैला देता हूं जिससे रोम, चर्मादि सातों धातु पुष्ट होकर शरीरको दृढ और बली बनादेते हैं। ऐसे मैं सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके प्राणीमात्रका वैश्वानर होकर कल्याण कररहा हूं। प्रमाण श्रुतिः— "ॐ अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते" ॥

अर्थ— यह जो अग्नि जठराग्निरूपसे इस पुरुषके शरीरके भीतर निवास कर इन अन्नोंको पचाता है उसे वैश्वानर कहते हैं।

कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि यही महाप्रभु वैश्वानर रूपसे सब प्राणियोंके नाभिस्थानको मानों अँगीठी बनाकर प्राण और अपानके संयोगसे उस अँगीठीमें स्थित अग्निको इस प्रकार प्रज्वलित करता है जैसे लोहार अपनी भाथीसे अहर्निश धोंक-धोंककर मनों लोहेको गला डालता है अथवा सुनार अपनी बांसकी नली द्वारा श्वासोच्छ्वास करताहुआ सेरों स्वर्णको गलाकर पानी करडालता है। ऐसे ही भगवान् वैश्वानर होकर प्राण अपानकी भाथीसे सब प्राणियोंके शरीरमें आप प्रज्वलित होकर दिन रात उनके अन्नोंको पचादिया करता है ॥ १४ ॥

अब भगवान् अपनी व्यापकता विस्ताररूपसे अगले श्लोकमें वर्णन करते हैं—

मू०— सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो,
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो,
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

पदच्छेदः— च (पुनः) अहम् (वासुदेवः) सर्वस्य (निखिलस्य प्राणिजातस्य) हृदि (बुद्धौ) सन्निविष्टः (चिदाभासरूपेण स्थितः । सम्यगन्तर्यामिरूपेण प्रविष्टः) मत्तः (सर्वकर्माध्यक्षाज्जगद्यन्त्रसूत्राधारात) स्मृतिः (जन्मान्तरादावनुभूतस्य परामर्शः) ज्ञानम् (विषयेन्द्रियसंयोगजम् । कर्त्तव्याकर्तव्यविषयालोचनम्) च, अपोहनम् (अपायनम् । विस्मरणम् । अज्ञानम्) च, सर्वैः (समस्तैः कर्मकाण्डोपासनाकाण्डज्ञानकाण्डात्मकैः) वेदैः (निगमैः) अहम् (परमात्मा) एवम्, वेद्यः (वेदितव्यः । ज्ञातुं योग्यः) वेदान्तकृत् (वेदान्तार्थसम्प्रदायप्रवर्त्तकः) च, अहम् (परमात्मा) एव (निश्चयेन) वेदवित् (वेदार्थवित् । सर्वज्ञः) ॥ १५ ॥

पदार्थः— (च) पुनः (अहम) मैं जो तुम्हारा साथी सो (सर्वस्य) सब प्राणियोंके (हृदि) हृदयमें (सन्निविष्टः) सम्यक् प्रकारसे प्रवेश कियेहुआ हूं (मत्तः) मुझसे ही (स्मृतिः) बुद्धिमानोंको स्मृतिशक्ति प्राप्त होती है (च) और (ज्ञानम्) ज्ञान होता है

(च) तथा (अपोहनम्) स्मृति और ज्ञान दोनोंका नाश भी होता है अर्थात् विस्मृति भी होती है (च) फिर (सर्वैः) समग्र (वेदैः) वेदोंसे (अहम्) मैं ही (एव) निश्चय करके (वेद्यः) जानने योग्य हूं (च) और (वेदान्तकृत्) वेदान्तअर्थका प्रवर्तक भी मैं ही हूं तथा (अहम्) मैं ही (एव) निश्चय करके (वेद॰वित्) वेदोंके यथार्थ अर्थका जाननेवाला सर्वज्ञ हूं ॥ १५ ॥

भावार्थः— पूर्व श्लोकमें भगवानने संकोचके साथ अपनी विभूतियोंका वर्णन किया । अब इस श्लोकमें विस्तारपूर्वक अपनी विभूतियोंका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तःस्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च**] मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें प्रवेश कियेहुआ हूं, मुझहीसे स्मृति होती है, ज्ञान होता है तथा इन दोनोंकी विस्मृति भी होती है अर्थात् ब्रह्मलोकसे पाताल पर्यन्त जितने देव, पितर, गन्धर्व, नर, नाग, राक्षस, पशु, पक्षी, कीट, पतंग इत्यादि हैं सबोंकेहृदयके भीतर तथा उनकी बुद्धिके अन्तर्गत मैं अन्तर्यामीरूपसे निवास करता हूं ।

पहले जो भगवानने यह कहा, कि मैं वैश्वानर होकर सबके उदरमें अन्नोंको पचाता हूं यह मानो अपनी स्थूल शक्तिका वर्णन किया पर अब इस श्लोकमें भगवान् अपनी अत्यन्त सूक्ष्म शक्तिका वर्णन करतेहुए सबके हृदयमें अर्थात् द्वादशदलान्तर्गत अष्टदल कमलमें अन्तर्यामीरूपसे निवास कियेहुआ हैं । प्रमाण श्रुतिः " ॐ स य एषो त हृदय आकाशस्तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः अमृतो हिरण्मयः । " (तैतिरी॰ बल्ली॰ १ श्रु॰ १२)

अर्थ– सब प्राणियोंके हृदयप्रदेशमें जो आकाश है तिसमें यह पुरुष निवास करता है जो मनोमय है अर्थात् ज्ञानरूप क्रियावाला होनेके कारण मन जो अन्तःकरण तिसपर अपनी चैतन्यात्मक ज्योति को इस प्रकार फैला रखा है जैसे लोहके पिण्डपर अग्निका तेज भासताहुआ देखपडता है । इसी कारण यहां 'मनोमय पद' बुद्धि आदि का भी उपलक्षण है । फिर यह पुरुष कैसा है, कि अमृतरूप है और प्रकाशमय है ।

यहां जो हृदयमें आकाश कथन किया उसीका नाम दहराकाश भी है अर्थात् द्वादशदल कमलके अन्तर्गत बांयीं ओर एक अष्टदल कमल है तिसके भीतर जो आकाश है उसीका नाम दहराकाश है, तिस दहराकाशको ब्रह्मसूत्रमें व्यासदेवने ब्रह्माकार परमात्मस्वरूप ही वर्णन किया है। यथा —" दहर उत्तरेभ्यः " (ब्रह्मसू० अ० १ पा० ३ सू० १४) अर्थात् पीछे जो सूत्र कहेंगे उस वाक्यसे सिद्ध होता है, कि दहराकाश जीव नहीं है किन्तु परमात्मा है ।

अब यहां श्रुतिद्वारा दहराकाशका वर्णन करदिया जाता है ।

प्रमाण श्रु०– " ॐ अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति " (छां० अ० ८ ख० १ श्रु० १)

अर्थ— इस ब्रह्मपुरी अर्थात् शरीरमें जो यह सूक्ष्म कमलाकार महल है और इसमें जो अन्तर्वर्त्ती आकाश है तिसके भीतर जो ब्रह्म स्थित है वही अन्वेषण करने योग्य है अर्थात् ढूंढने योग्य है ।

अब यदि कोई पूछे, कि इस दहराकाशनामक हृदयकमलमें कौन२ सी वस्तु हैं ? तो श्रुति कहती है, कि" ॐ स ब्रूयाद्यावान्वाअयमाकाशस्तावानेषोन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्य्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितमिति " (छां० अ० ८ खं० १ श्रु० ३)

अर्थ— जितना यह बाह्य आकाश है अर्थात् शरीरके बाहर इन नेत्रोंसे देखाजाता है उतना ही आकाश इस हृदयके भीतर भी है, उसीके भीतर देवलोक और मृत्युलोक निश्चयकरके स्थित हैं, अग्नि, वायु, सूर्य्य, चन्द्र, एवं बिजली और नक्षत्रगण भी इस हृदयाकाशमें स्थित हैं और जो कुछ इस लोकमें है तथा जो कुछ नहीं है अर्थात् आगे होनेवाला है सब इस दहराकाशमें स्थित है। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि मैं सब प्राणियोंके हृदयके भीतर स्थित हूँ। जब वही वहां स्थित है तो सारे ब्रह्माण्डकी भी स्थिति सिद्ध होगयी क्योंकि वह स्वयं हृदयमें है और सारा ब्रह्माण्ड उसमें है तो फिर इस हृदयाकाशका कहां अन्त लग सकता है। इसी कारण इस शरीरको क्षुद्रब्रह्माण्ड भी कहतेहैं एवंप्रकार सब प्राणियोंके हृदयकमलमें भगवान् का स्थित रहना सिद्ध है। हृदयकमल (दहराकाश) की सीधमें अन्तःकरणतक एक लेन्स आलोक्य यन्त्रका काच (Lens) अत्यन्त प्रकाशयुक्त लगा हुआ है उसी होकर सारे ब्रह्माण्डका बिम्ब (Focus) हृदयकमलमें खिचजाता है। इसलिये हृदयसे अन्तःकरण पर्य्यन्त संपूर्ण विराट्का बिम्ब फैला हुआ समझना चाहिये इसी कारण भगवान्ने

यहां " सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः" कहकर अपनेको प्राणीमात्रके हृदयमें स्थित दिखलाया।

अब भगवान् कहते हैं, कि " मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च " प्राणियोंमें स्मृति और ज्ञान भी होते हैं तथा अपोहन अर्थात् दोनोंका अभाव भी होता है।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि बडे २ बुद्धिमानों और योगियोंमें जो स्मृतिकी पूर्णता देखा जाती है और जिसके द्वारा बडे २ विद्वान् वेद, वेदान्त, स्मृति, पुराण इत्यादिके वचनोंको बाल्यावस्थासे वृद्धावस्थातक स्मरण रखते हैं तथा योगीलोग जिस स्मृतिद्वारा जन्म-जन्मान्तरोंकी वार्त्ता स्मरण रखते हैं जैसे जडभरतने मृगके शरीरमें अपने पूर्वशरीरकी स्मृति रखी थी। सो भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! यह स्मृतिसत्ता मुझ ही से है। इसी स्मृतिको यों भी कह सकते हैं, कि सब जीवोंके हृदयमें जो यह वार्त्ता फुरती रहती है, कि मैं अमुक हूं, अमुकका पुत्र हूं, अमुक स्थानमें मेरा निवास है इत्यादि २ सो इसी स्मृतिका कारण है अतएव कहना पडेगा, कि सो स्मृति मुझसे ही है वरु इस प्रकारकी स्मृति स्वयं मैं ही हूं।

इन्द्रियोंके सम्मुख जो विषयोंका आगमन है उसके विषय जो कुछ भला बुरा समझमें आता है और उसके गुणदोषको जानकर जो संग्रहत्यागकी बुद्धि है वह साधारण ज्ञान है और जो इन विषयोंसे विमुख केवल परमार्थदृष्टिसे भगवत्प्राप्तिका ज्ञान है सो विशेषज्ञान है एवम्प्रकार ये दोनों प्रकारके ज्ञान मुझ ही से प्रतिष्ठित हैं।

फिर इन स्मृति और ज्ञानका नष्ट होजाना अर्थात् कभी-कभी काम, क्रोध, शोक इत्यादिकी प्रबलतासे अपोहन होजाना अर्थात् स्मृति और ज्ञानपर आवरण कर विस्मृति और अज्ञानताका उदय होजाना भी मुझहीसे है अर्थात् जब प्राणी मुझे भूलजाता है वा मुझसे विमुख होजाता है तो उसकी बुद्धि भ्रष्ट होजानेसे सब स्मृति और ज्ञान उसके हृदयसे जाते रहते हैं इसका कारण भी मैं ही हूं क्योंकि मेरा ही भूलजाना इस महारोषका कारण है । जैसे निद्रा और जागृतका कारण आत्मा ही है इसी प्रकार स्मृति, विस्मृति, ज्ञान और अज्ञानका कारण भी मैं ही हूं ।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदांतकृद्वेदविदेव चाहम्**] समस्त वेदोंके द्वारा मैं ही जानने योग्य हूं, वेदान्तकृत् भी मैं ही हूं तथा वेदविद् भी मैं ही हूं अर्थात् वेदाध्ययन करनेवाले चारों वेदोंमें कर्म, उपासना और ज्ञान काण्डको पढ़कर तथा वेदमन्त्रोंका मनन इत्यादि करके अन्तमें मुझ ही को जानते हैं इसलिये मैं ही वेदोंके द्वारा 'वेद्य' अर्थात् जानने योग्य हूं तथा वेदान्तकृत् वेदान्तके यथार्थ अर्थोंके सम्प्रदायका प्रवर्तक भी मैं ही हूं अर्थात् मैं ही स्वयं व्यासादि महर्षियोंका अवतार लेकर इस संसारमें वेदान्तशास्त्रका प्रचार जीवोंके कल्याण निमित्त करजाता हूं । अथवा यहां यों अर्थ करलीजिये, कि मैं ही वेदोंको अपने श्वाससे उत्पन्नकर ब्रह्मादि देवोंको प्रदान करता हूं । प्रमाण श्रुतिः— " **ॐ यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै** " अर्थात् उस महा प्रभुने पहले ब्रह्माको उत्पन्न किया फिर

उस ब्रह्माको सब वेद प्रदान करदिये। फिर भगवान् कहते हैं, कि "वेदवित्" भी मैं ही हूं अर्थात् जो कुछ वेदोंमें कथन है सो सब मैं ही जानता हूं अन्य किसीको उन सब अर्थोंका बोध पूर्णप्रकार नहींहै।

प्रिय पाठको! भगवानका यह वचन, कि 'वेदवित्' भी मैं ही हूं याथातथ्य है इस वचनमें तनक भी सन्देह नहीं। ऐसा देखा भी जाता है, कि यद्यपि सायण, महीधर तथा रावण इत्यादि वेदके जाननेवालोंने वेदोंमें मन्त्रोंके अर्थ किये हैं पर बहुतसे स्थानों में ये उछल कूदकर अपनी २ बुद्धि और विद्याका बल लगाते हुए भी यथार्थ तत्त्वको नहीं पहुंचसके हैं इस कारण इनको 'वेदवित्' कहनेमें शंका होती है ऐसी शंकाके दूर करनेके तात्पर्यसे भगवान् कहते हैं, कि मुझसे इतर कोई भी यथार्थ 'वेदवित्' नहीं है ॥ १५ ॥

अब भगवान् अपनी उपर्युक्त सारी विभूतियोंको जो इस संसार-रूपी पुरमें शयन किये हुई हैं अर्थात् वर्त्तमान हैं उन्हें पुरुष नाम करके तीन राशियोंमें विभक्त करते हुए तीनोंका वर्णन अगले तीन श्लोकोंमें स्पष्टरूपसे करते हैं—

मू०— द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६

पदच्छेदः— लोके (संसारे । व्यवहारभूमौ) इमौ (वक्ष्यमाणौ) द्वौ (द्विसंख्यकौ) पुरुषौ, क्षरः (विनाशशीलः) च (तथा) अक्षरः (विनाशरहितः) च, एव [तत्र] सर्वाणि (समस्तानि) भूतानि (ब्रह्मलोकादारभ्य पातालपर्य्यन्तानि प्रकृति-जन्यपंचभूतोत्पादितशरीराणि प्राणिजातानि वा) क्षरः (परिच्छिन्नो-

पाधित्वात् क्षरतीति यः) कूटस्थः (मायाप्रपंचे तिष्ठतीति यः। पर्वतइव देहेषु नश्यत्स्वपि निर्विकारतया तिष्ठतीति यः । पूर्णनिरामयः । यथार्थवस्त्वाच्छादनेनायथार्थवस्तुप्रकाशनं वञ्चनं मायेत्यनर्थान्तरं तेनावरणविक्षेपशक्तिद्वयरूपेण स्थितो भगवान् मायाशक्तिरूपः) अक्षरः (विनाशरहितः । अव्ययः) उच्यते (कथ्यते) ॥ १६ ॥

पदार्थः— (लोके) इस संसारमें (इमौ द्वौ) ये दोनों (पुरुषौ) पुरुष (क्षरः) एक नाशमान (च) और (अक्षरः) दूसरा नाशरहित (च) भी (एव) निश्चयकरके हैं जिनमें (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्रकृतिजन्य पंचभूतोंसे उत्पन्न ब्रह्मलोकसे पाताल पर्य्यन्त जितने पदार्थ वा प्राणिसमूह हैं सब (क्षरः) क्षर कहलाते हैं और (कूटस्थः) जो मायामें स्थित मायापति ईश्वर है वह (अक्षरः) अविनाशी (उच्यते) कहाजाता है ॥ १६ ॥

भावार्थः— यहां भगवान् अपनी विभूतियोंको तीन राशियोंमें विभक्त करतेहुए दो राशियोंको इस श्लोकमें और तीसरीको अगले श्लोकमें वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च**] इस संसारमें दो पुरुष हैं एक क्षर और दूसरा 'अक्षर'। क्षर उसे कहते हैं जो नाशमान हो और 'अक्षर' उसे कहते हैं जो नाशरहित हो अर्थात् अविनाशी हो । यहां विचारने योग्य है, कि नाशमान और अविनाशी किन-किनको कहना चाहिये ? तथा इन दोनोंके लक्षण क्या हैं ? तहां दूसरे शब्दोंमें क्षरको 'असत्' और अक्षरको 'सत्' कहते हैं । क्योंकि भगवान् स्वयं अपने

मुखारविन्दसे कहचुके हैं, कि " नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः " (अ० २ श्लोक १६) अर्थात् अनित्य वस्तुका कभी भी अस्तित्व नहीं है और नित्य वस्तुका कभी अभाव अर्थात् नाश नहीं है । तात्पर्य यह है, कि जिसकी स्थिति कभी देखपडे, कभी न देखपडे अर्थात् जो तीनों कालमें एक रस न रेहकर केवल एक या दो कालमें देखा जावे वही क्षर अर्थात् असत्, अनित्य और नाशमान कहाजाता है और जो तीनों कालमें एक रस रहे उसे अक्षर अर्थात् सत्य, नित्य और अविनाशी कहते हैं ।

भगवान् कहचुके हैं, कि " अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्व-मिदं ततम् " (अ० २ श्लोक १७) अर्थात् जो इन सब चराचर में व्याप्त है उसे अविनाशी जानो । फिर यह भी कह आये हैं, कि 'अन्तवन्त इमे देहाः' (अ० २ श्लोक १८) यह देह अन्तवान् है इसलिये इसे अनित्य समझना चाहिये । तात्पर्य्य यह है, कि आत्मा जो सर्वत्र सबोंमें एक रस व्याप रहा है उसे ' अक्षर ' और यह शरीर जो अस्थिर है उसे ' क्षर ' जानना चाहिये ।

१३ वें अध्यायके श्लो० ६ में जो भगवानने क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका वर्णन किया है तहां पाचों महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त दशों इन्द्रियां, एक मन, पाचों इन्द्रिय गोचर फिर इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना और धृति इन सबोंको क्षेत्रके नामसे पुकारा है जो क्षर हैं और क्षेत्रज्ञ कहकर इस अविनाशी चैतन्यात्माको पुकारा है जो अक्षर है। यहां क्षेत्रसे क्षरपुरुष और क्षेत्रज्ञसे अक्षर पुरुषका तात्पर्य्य रखा गया है ।

अब इस चैतन्यात्मा क्षेत्रज्ञके दो भेद हैं ' जीव ' और 'ईश्वर' अर्थात् वही एक आत्मा जो तमोगुणविशिष्ट है वह जीव और जो सत्व-गुण विशिष्ट है उसे ईश्वरे कहते हैं । यद्यपि इस जीव और ईश्वर का संग अनादिकालसे है पर तमोगुणविशिष्ट जीवको बारंबार मत्युके वशीभूत होनेके कारण इसे क्षर मानना पडता है और सत्व-गुणविशिष्ट ईश्वर विषय क्या कहना है ? वह तो अक्षर ही है।

अब कहते हैं, कि [क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते] ये जितनें भूतमात्र हैं वे सब क्षर हैं। अभी जो पंचभूतोंसे लेकर धृति पर्य्यन्त ३६ अंग क्षेत्रके दिखलायेगये हैं वे सब एक ठौर मिलकर क्षर-पुरुष कहेजाते हैं और कूटस्थ (ईश्वर) जो इस मायाके स्थित रखनेका कारण है उसे अक्षर कहते हैं ।

तहां कोई तो यों अर्थ करता है, कि प्रकृतिके कार्य जो देहादिक हैं इनहीं विकारसमुदायको क्षर कहते हैं और इन भूतसमुदायकी उत्पत्तिका बीज और संसारी प्राणीके काम्य कर्मादि संस्कारका आश्रय जो कूटस्थ उसे अक्षरपुरुषके नामसे पुकारते हैं ।

फिर कोई यों अर्थ करता है, कि जितने पदार्थ पंचमहाभूतोंके सम्बन्धसे इस जगत्में वर्त्तमान हैं वे क्षर हैं और इन पंचभूतोंके अन्तर्गत जो एक विचित्र प्रकाश है जो तीनों कालमें एकरस रहकर पांचभौतिक पादर्थोंके नाश होनेपर भी सर्वत्र व्याप रहा है वही अक्षर है।

कोई यों अर्थ करेता है, कि यह जो 'तत्त्वमसि' महावाक्य है तिसमें 'तत्' और 'त्वम्' दो पद हैं। इनमें 'तत्' अक्षर पुरुष है और 'त्वम्' क्षरपुरुष है अर्थात् ब्रह्मासे लेकर कीट पर्यन्त जितने चेतनवर्ग जीवात्मा करके प्रसिद्ध हैं वे क्षर हैं। क्योंकि ज्ञान उत्पन्न होते ही जीवत्वका नाश होता है इसलिये यह जीव क्षरपुरुष है और कूटस्थ मायामें स्थित निर्लेप रह प्राणियोंको प्रेरणा करताहुआ सबोंसे संसृतिव्यवहारका सिद्ध करानेवाला जो ईश्वर वही अक्षरपुरुष है।

फिर कोई यों कहता है कि "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" इस श्रुतिके वचनानुसार इस शरीररूप वृक्षपर जो दो पक्षी ये जीव और ईश्वर हैं इनमें जीव क्षर और ईश्वर अक्षर कहाजाता है। क्योंकि ईश्वर जो निर्विकार है वह तो साक्षीमात्र होकर जीवके विभिन्न कर्मोंको देखता रहता है और जीव अपने कर्मानुसार नीचे ऊपर होते रहते हैं।

फिर कूटस्थका अर्थ किसीने ब्रह्म किया है और किसीने जीव भी किया है। जैसे महर्षि विद्यारण्यने पंचदशी ग्रन्थमें परमात्माकी चार दशाओंमें एक दशाका नाम कूटस्थ कथन कियाहै "कूटस्थो ब्रह्म जीवेशावित्येवं चिच्चतुर्विधा। घटाकाशमहाकाशौ जलाकाशाभ्रखे यथा" (पं० प्र०६ श्लो० १८) अर्थात् परमात्मा व्यवहारकी दशामें कूटस्थ, ब्रह्म, जीव और ईश्वर इन चार स्वरूपोंको इस प्रकार प्राप्त होता है। जैसे एक ही आकाश घटाकाश, महदाकाश, जलाकाश और मेघाकाश चारे स्वरूपोंमें देखाजाता है। तहां जो घटके भीतर आकाश है सो 'घटाकाश' है और जो घटके बाहर भीतर सर्वत्र फैलाहुआ है वह

'महदाकाश' है, फिर उस घटमें जो जल है तिस जलके भीतर जो आकाश का बिम्ब तारागण इत्यादि सहित देखाजाता है सो 'जलाकाश' है और बादलोंमें जो जल है तिस जलके भीतर जो आकाशका प्रतिबिम्ब है वह 'मेघाकाश' है।

इसी प्रकार कूटस्थ ब्रह्म, जीव और ईश्वरका विचार जानना चाहिये तहां प्रथम कूटस्थका विचार कियाजाता है— "अधिष्ठानतया देहद्वयावच्छिन्नचेतनः । कूटवन्निर्विकारेण स्थितः कूटस्थ उच्यते" (वेदान्तपञ्चदशी चित्रदीपप्रकरण श्लो० २२)

अर्थ— पञ्चभूतोंके पञ्चीकरणसे जो यह स्थूल शरीर तथा अपञ्चीकृत पञ्चभूतोंसे जो ये सूक्ष्म शरीर हैं इनकी अधिष्ठानता करके इन दोनों शरीरोंसे अविच्छिन्न चैतन्य जो सदा निर्विकाररूपसे स्थित है उसे कूटस्थ कहते हैं। अभी कह आये हैं, कि कूटस्थकी उपमा घटाकाशसे है सो घटाकाश जैसे महदाकाशके अन्तर्गत है इसी प्रकार यह कूटस्थ उस ब्रह्मके अन्तर्गत है क्योंकि ब्रह्मकी उपमा महदाकाशसे है। जैसे महदाकाश सर्वत्र सब वस्तुतस्तुओंको घेरेहुआ है इसी प्रकार वह ब्रह्म सर्वत्र सब कूटस्थ जीव और ईश्वर इत्यादिको घेरे हुआ है जिसके विषय भगवान् अगले श्लोकमें कहेंगे, कि "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः" अतएव वही उत्तम पुरुष है जिसमें सब पदार्थ स्थित हैं।

अब जीवका विचार कहते हैं—"कूटस्थे कल्पिता बुद्धिस्तत्र चित्प्रतिबिम्बकः। प्राणानां धारणाज्जीवः संसारेण स युज्यते॥ (वे० पञ्चद० प्र० ६ श्लो० २०)

पहले जो कूटस्थ कहआये हैं तिस कूटस्थमें बुद्धिकी कल्पनासे अर्थात् कल्पित बुद्धिसे जो चैतन्यका प्रतिबिम्ब है सो ही जीव कहा-जाता है सो जीव मायासे बँधाहुआ जन्म, मरण, राग, द्वेष, हानि, लाभ, सुख, दुःख इत्यादिसे युक्त संसारमें फंसाहुआ इधर-उधर भट-कता फिरता है इसकी उपमा जलाकाशसे है।

अब ईश्वरका विचार करते हैं, कि " **क्लेशकर्मविपाकाश-यैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः** " अर्थात् क्लेश, कर्म, विपाक और आशय इन चारोंकी झंझटोंसे रहित जो पुरुष विशेष है उसे ईश्वर कहते हैं।

यद्यपि इन चारों आकाशोंको लिखकरे सर्वसाधारणको समझाना कठिन है तथापि पाठकोंके कल्याणार्थ यहां संक्षिप्त करके लिख दिया जाता है।

जैसे महदाकाशमें घटाकाश, घटाकाशमें जलाकाश, जला-काशमें मेघाकाश और, मेघाकाशमें जल फिर तिस जलाकाशमें सूर्य्यकी किरणोंके बिम्बसे इन्द्रधनुष इत्यादिका बनजाना

टिप्पणी—क्लेशः— अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पांचों क्लेश कहेजाते हैं।

कर्मः— धर्म और अधर्म।

विपाकः— शुभाशुभकर्म जो परिपक्व होकर फल देनेको तयार होगये हैं।

आशयः— शुभाशुभकर्म जो परिपक्व नहीं हुए कच्चे रहगये इसलिये जिनके फल भोगनेके लिये सम्मुख नहीं आये।

जो प्रत्यक्ष होता है सो सब अविद्याका कारण है । यदि यथार्थमें विचारदृष्टिसे देखाजावे तो सबोंका अभाव होकर केवल एक महदाकाश ही सर्वत्र व्यापक देखाजाता है । इसी प्रकार अविद्याके नष्ट हुए सर्वत्र एकरस व्यापक ब्रह्म ही ब्रह्म देखाजाता है कूटस्थ, जीव, ईश्वर इन तीनोंका एक वारगी अभाव होजाता है ।

इसी विषयको पूर्णप्रकार जनानेके लिये भगवान्‌ने अपनी सारी शक्तिको तीन राशियोंमें विभक्त करदी । क्षर, अक्षर और परमपुरुष "परमात्मा" । तहां क्षरमें ब्रह्मलोकसे पाताल पर्यन्तके शरीर और तिस शरीरमें जीवोंको और जीवोंमें कूटस्थ अर्थात् ईश्वरको रखा और अगले श्लोकमें परमपुरुष कहकर उस निर्विकार निर्लेप ब्रह्मका स्वरूप दिखलादिया ।

यद्यपि इस श्लोकके अर्थ कई प्रकारसे होचुके हैं पर मेरे विचार में जैसे आकाशमें सूर्य और चन्द्र दिनरात निवास करते हैं इसी प्रकार इस सृष्टिरूप आकाशमें क्षर और अक्षर ये दोनों पुरुष निवास करते हैं । अथवा जैसे किसी नदी वा नद के दो तट होते हैं जिनके बीचमें जल प्रवाह करता रहता है इसी प्रकार सृष्टिरूप नदीके क्षर अक्षर मानों दोनों किनारे हैं जिनके बीच प्रपंचरूप जल अत्यन्त वेगसे लहराता रहता है केवल भेद इतना ही है कि अज्ञा-नता ही के कारण इनके स्वरूपका भान होता है पहले ही कथन करआये हैं, कि आकाशमें घट, घटमें घटाकाश, घटा-काशमें जल, जलमें जलाकाश, जलाकाशमें मेघाकाश, मेघाकाशमें इन्द्र-

धनु, विद्युत इत्यादि मायाकृत हैं और क्षणिक हैं विचारकी दृष्टिसे सब नष्ट होकर आकाश ही आकाश रहजाता है इसी प्रकार ब्रह्ममें कूटस्थ, कूटस्थमें ईश्वर, ईश्वरमें जीव, जीवमें सृष्टि, सृष्टिमें जीव, जीवमें ईश्वर, ईश्वर में कूटस्थ और कूटस्थमें ब्रह्म। इन चारोंका अनुलोम विलोम करनेसे अन्ततोगत्वा इस सृष्टिमें केवल क्षर और अक्षर दो ही पुरुष रहजाते हैं । तहां सारी रचनाको समेटकर क्षरका अर्थ प्रकृति और जीवका अर्थ कूटस्थ वा ईश्वर समझना चाहिये ।

अब यदि हम प्रकृतिको पुरुष कहें तो इसमें इतना ही दोष निकलता है, कि प्रकृति स्त्रीलिंग शब्द है इसको पुरुषके नामसे पुकारनेमें किंचित् शंका उत्पन्न होजाती है । क्योंकि पुरुष शब्दका अर्थ है, कि " पूरयति बलं यः, पूर्षु शेते " अर्थात जो बलको पूरा करे अथवा पुर (नगर) में जो शयन करजावे। सो यह प्रकृति संपूर्ण सृष्टिको बल देरही है और सृष्टिमात्रमें शयन कररही है अर्थात फैलीहुई है इसलिये जब पुरुष शब्दके यथार्थ अर्थको देखते हैं तो प्रकृतिको भी पुरुष कहनेमें शंका नहीं होती । पर सांख्य-शास्त्रमें जो प्रकृति और पुरुष शब्दका अर्थ कियागया है उससे यहां तात्पर्य नहीं रखागया है । क्योंकि उस पुरुषसे यदि यहां तात्पर्य रखाजावे तो दूसरे प्रकारका अर्थ करना होगा जो अर्थ मेरा अभीष्ट नहीं है इसलिये भगवान्के " द्वाविमौ पुरुषौ लोके " संकेत करनेके अनुसार ही प्रकृतिको पुरुष कहना पडेगा और यहां अक्षर अर्थात कूटस्थको अर्थ जीव वा ईश्वर करना पडेगा क्योंकि इस शरीरमें जीव वा ईश्वरका संमिश्रण अनादिसे चला आरहा है ।

यहां भगवान्के "क्षरः सर्वाणि भूतानि" कहनेसे सब जीवोंसे तात्पर्य है क्योंकि 'भूत' पदका अर्थ जन्तु भी है। तब क्षर कहनेसे यों अर्थ होता है, कि जबतक अज्ञानताकी अन्धकाररात्रि सामने पडी हुई है तब ही तक जीव अक्षर भास रहा है ज्ञानके उदय होते ही जीवका एकदम अभाव होजाता है इसलिये उस जीवको क्षरपुरुष कहसकते हैं।

अब कूटस्थको अक्षर कहते हैं अर्थात् कूटस्थ जो ईश्वर है वह अक्षर है जो अविनाशी है।

शंका— इन अर्थोंके पढनेसे चित्तमें एक प्रकारकी चंचलता उदय होआती है और गडबडझालासा देखपडता है। क्योंकि एक ही जीवकी कहीं क्षरपुरुषमें और कहीं अक्षरपुरुषमें गणना कीगयी है ऐसा क्यों?

समाधान— जीवको क्षर तो इसलिये दिखलाचुके हैं, कि जबतक अज्ञानता है तभी तक जीवत्वका भान होता है ज्ञानकी प्राप्ति होते ही जीवत्वका एकबारगी नाश होजाता है अर्थात् "अहं ब्रह्मास्मि" "तत्त्वमसि" "अयं ब्रह्मात्मा" इन महावाक्योंसे सिद्ध होता है, कि यह जीव ब्रह्म है अन्य कुछ नहीं इसलिये ब्रह्मसे इतर जो कुछ जीवत्वका भ्रम होरहा था वह इन महावाक्योंके यथार्थ अर्थके जाननेवालोंके हृदयोंसे मिटजाता है अतएव इस जीवकी क्षरपुरुषमें गणना करदी है। पर जब इसको पंचभूतकृत जड पदार्थोंकी ओर लेजाते हैं तो सब जड पदार्थोंमें यही चैतन्यका कारण होजाता है सो चैतन्य अविनाशी है इसीलिये इसको भगवान्ने भी इसी अध्यायके

७ वें श्लोकमें "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" कहकर पुकारा है इसलिये अक्षरपुरुषमें भी इसकी गणना की है अर्थात् देहलीदीपकन्यायसे जितने काल तक इसका मुख दोनों ओर है तब तक क्षर और अक्षर दोनों प्रकारके पुरुषोंमें इसकी गणना कीजाती है। शंका मत करो! और उक्त कई प्रकारसे चंचलताका अनुमान भी मत करो! इसीलिये विज्ञानियोंको इन अर्थोंसे किसी प्रकारकी चंचलता नहीं प्राप्त होगी अज्ञानियोंको हो तो हो।

केवल भेद इतना ही है, कि सत्वगुणकी प्रधानताको लेकर जब वह परमज्योति सृष्टिकी ओर प्रकाश करता है तब ही तक यह उपाधियुक्त होनेसे ईश्वर वा अक्षरपुरुष कहा जाता है इन उपाधियों के दूर होजानेसे वही निर्मल निर्विकार सच्चिदानन्द परमपुरुष परमात्माके नामसे पुकारा जाता है जिसको आगे कहते हैं॥ १६॥

अब भगवान् क्षर और अक्षर दोनोंसे विलक्षण नित्य शुद्ध सच्चिदानन्द परमपुरुषका वर्णन करते हुए कहते हैं—

मू०— उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ १७॥

पदच्छेदः— उत्तमः (उत्कृष्टतमः) पुरुषः, तु, अन्यः (क्षराक्षराभ्यां विलक्षणः) परमात्मा (अविद्याकृतेभ्यो देहादिभ्यः परश्चासौ सर्वभूतात्मा च) इति (एवम्) उदाहृतः (प्रतिपादितः) यः, अव्ययः (सर्वविकारशून्यः) ईश्वरः (सर्वस्य नियन्ता) लोकत्रयम् (स्वर्गमर्त्यपातालाख्यं समस्तं जगत् भूर्भुवःस्वराख्यं वा)

आविश्य (स्वकीयया मायाशक्त्या अधिष्ठाय) बिभर्ति (सत्ता-स्फूर्तिप्रदानेन धारयति पोषयति प्रकाशयति वा) ॥ १७ ॥

पदार्थः— (उत्तमः) सबसे श्रेष्ठ (पुरुषः) पुरुष (तु) तो (अन्यः) क्षर और अक्षर दोनोंसे विलक्षण कोई दूसरा (परमात्मा) परमात्मा (इति) ऐसा नाम करके (उदाहृतः) वेद शास्त्रोंमें कथन कियागया है (यः) जो (अव्ययः) सर्वप्रकारके विकारोंसे रहित (ईश्वरः) सबोंका नियन्ता सबोंपर आज्ञा चलाने वाला होकर (लोकत्रयम्) तीनों लोकोंमें (आविश्य) प्रवेश कर समस्त जगत्का (बिभर्ति) धारण, पालन और पोषण करता है ॥ ॥ १७ ॥

भावार्थः— श्रीगोलोकविहारी जगतहितकारीने क्षरे और अक्षर दो पुरुषोंका वर्णन करके अब तीसरे उत्तम पुरुषका वर्णन करते हुए कहते हैं, कि [उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः] क्षर और अक्षर इन दोनों प्रकारके पुरुषोंसे विलक्षण शुद्ध बुद्ध नित्यमुक्त स्वभाववाला सबोंसे श्रेष्ठ कोई तीसरा पुरुष है जो वेदशास्त्रमें बडेबडे विद्वानों द्वारा परमात्मा नामकरके कथन किया गया है। क्योंकि जो सबोंसे श्रेष्ठ आत्मा हो उसे कहिये परमात्मा अर्थात् आत्मवादमें जो अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय इन पांचों कोशोंको आत्माके नामसे पुकारा है तिनसे अतीत होकर जो पुरुष इनको प्रकाश करनेवाला है उसे परमात्माके नामसे पुकारते हैं । जहां न पांचों कोशोंमें किसी

कोशका न जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंमें किसी अवस्थाका और न भूः भुवः स्वर्लोकादि सप्त लोकोंमें किसी लोकका पता लगता है। जहां जाकर 'अहं त्वम्' दोनों लय होजाते हैं, जहां जाकर " यतो वाचो निवर्त्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह " इस श्रुतिके वचनानुसार मन वचन किसीका भी बल नहीं चलता तथा " न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति न मनः " इस श्रुतिके वचनानुसार जहां न आंख जाती है न वचन जाता है न मनका प्रवेश होसकता है सो ही साक्षात् परमानन्द पद है उसीको वेद शास्त्रोंने उत्तम पुरुष कहा है । प्रमाण श्रु०— " ॐ सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति " (केन० अ० १ वल्ली २ श्रु० १५) अर्थ— सब वेद जिस परमात्मतत्वको प्रतिपादन करते हैं सब प्रकारके तप करनेवाले जिसे कथन करते हैं सो ही साक्षात् परमतत्व है और परमपुरुष है ।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि उसीकी सत्तासे सबकी स्थिति है जो इन चर्मचक्षुओंसे देखा नहीं जाता पर है अवश्य । जैसे चुम्बकके आकर्षणको कोई बुद्धिमान् इन नेत्रोंसे नहीं देख सकता पर इतना तो अवश्य जानता है, कि इसके आकर्षणकी शक्ति तीनों कालमें वर्त्तमान है ।

इसी प्रकार वह परमपुरुष इन नेत्रोंसे देखा नहीं जाता पर वह है अवश्य जिसकी ओर सम्पूर्ण सृष्टिके जड चेतन सब खिंचे पडे हैं । इसी कारण स्वयं भगवान् अपने मुखारविन्दसे कहते हैं, कि [यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः] जो

तीनों लोकोंमें प्रवेश करके तीनों लोकोंका पालन पोषण करता है तथा अपने प्रकाशसे प्रकाशित करता है ।

तात्पर्य यह है; कि वही अव्यय ईश्वर सबोंका धारण, पोषण और पालन करता है जैसे चन्द्रमा अपनी शीतल अमृतधाराकी वर्षासे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी औषधियोंको पोषणकरता है इसी प्रकार जो परमात्मा अव्यय है वह अपनी परम विभूतिरूप अमृतधारासे सम्पूर्ण संसारको जीवित रखता है जो अपनी मायाको अंगीकार कर विश्वमात्रका प्रतिपालन कररहा है जिसे विश्वम्भरके नामसे पुकारते हैं वही उत्तम पुरुष है ।

शंका— दो पुरुषोंके अन्तर्गत ईश्वरकी गणना करआये हो तो फिर उसी ईश्वरको इस श्लोकमें 'य ईश्वरः' कहकर उत्तम पुरुषमें क्यों गणना करते हो ?

समाधान— वही उत्तम पुरुष जब सत्वगुणविशिष्ट होकर अपनी मायासहित इस सृष्टिके व्यवहार करनेमें अर्थात् इसके भरणपोषणमें लग जाता है तब उसे ईश्वरके नामसे भी पुकारते हैं और जब वह शुद्ध बुद्ध सर्वउपाधिरहित शान्तरूपसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें शयन किये रहता है तब उसे उत्तम पुरुषके नामसे पुकारते हैं । इसी उत्तमपुरुषकी तीन राशियां हैं ये तीनों राशि इस उत्तम पुरुषसे भिन्न नहीं है । जैसे वस्तुतः किसी तीन पदार्थोंको तीन भिन्न-भिन्न स्थानोंमें देखते हैं ऐसे क्षरपुरुष, अक्षरपुरुष और उत्तमपुरुष ये तीनों पुरुष यथार्थमें तीन नहीं हैं केवल जिज्ञासुओंके समझनेमात्र इन तीन राशियोंका विभाग है । यदि सच पूछो तो न कहीं क्षर है और न अक्षर

है सबोंमें एक ही अद्वितीय परब्रह्म एकरस व्यापरहा है जिसे उत्तम पुरुष कहते हैं। उसीको अधिक पहचानलेनेके तात्पर्यसे भगवान्ने इस श्लोकके अन्तमें उसे अव्यय और ईश्वर कहा अर्थात् वही उत्तम पुरुष अव्यय और ईश्वरके नामसे भी पुकारा जाता है।

यदि कोई विद्वान् ईश्वरका "विशुद्धसत्वप्रधानअज्ञानोपहितचैतन्य" अर्थ करे तो इसमें कोई हानि नहीं पर ऐसा करनेसे परमात्माके सोपाधिक रूपका ही वर्णन समझा जावेगा शुद्ध बुद्ध नित्यमुक्तस्वभावका अर्थ नहीं स्वीकार होसकेगा।

मैं पहले कहचुका हूं, कि यहां पुरुषोंके अर्थ करनेमें परस्पर विद्वानों और मतमतान्तरवालोंकी खैंचातानी मात्र है। संस्कृतमें एक शब्दके अनेक अर्थ होते हैं इसी कारण जिस विद्वानकी जैसी रुचि होती है अपनी ओर खैंचलेता है यदि ऐसा न होता और संस्कृतविद्यामें शब्दोंके अनेकार्थ न होते तो स्वामी दयानन्दको वेदोंके अर्थ पलट देनेमें सुगमता न होती। शंका मत करो॥ १७ ॥

इतना सुन अर्जुनके चित्तमें यह लालसा उत्पन्न हुई, कि श्यामसुन्दर जो मेरे रथवान् होकर रथपर खडे हैं और जिनकी विभूतियोंको मैं अपने नेत्रोंसे देख चुका हूं सो यथार्थमें कौन हैं? इन तीनों राशियोंके भीतर किस राशिमें इनकी गणना करनी चाहिये? अर्जुनके हृदयकी गति जान श्रीआनन्दकन्द अर्जुनको सन्तोष देने तथा प्रसन्न करनेके तात्पर्यसे स्वयं अगले श्लोकमें अपना पुरुषोत्तम होना वर्णन करते हैं।

मू०— यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८॥

पदच्छेदः— यस्मात् (यस्मात् कारणात्) अहम् (वासुदेवः । नित्ययुक्तः) क्षरम् (नाशमानम् । जडकार्यवर्गम्) अतीतः (अतिक्रान्तः) च, अक्षरात् (अव्याकृतात् मायाख्यात् । कारणरूपेण व्यापकतया विद्यमानात् ईश्वरभावात् वा) उत्तमः (श्रेष्ठः) अतः (अस्मात् कारणात्) लोके (लौकिककाव्यादौ) वेदे (सर्वस्मिन् वेदराशौ) च, पुरुषोत्तमः (क्षराक्षराभ्यां विलक्षणत्वेन सर्वोत्कृष्टः पुरुषः) प्रथितः (प्रख्यातः । प्रसिद्धः) अस्मि ॥ १८ ॥

पदार्थः— (यस्मात्) जिस कारण (अहम्) मैं वासुदेव नित्यमुक्तस्वरूप (क्षरः) जो नाशमान सृष्टि अथवा जीव तिसे (अतीतः) अतिक्रमण कियेहुआ हूं (च) और (अक्षरात्) विनाशरहित माहेश्वरी माया तथा सत्वगुणविशिष्ट आत्मा जो ईश्वरभाव (अपि) उससे भी (उत्तमः) श्रेष्ठ हूं (अतः) इस कारण (लोके) लोकमें और (वेदे) वेदमें (च) भी (पुरुषोत्तमः) पुरुषोत्तम नाम करके (प्रथितः) प्रख्यात (अस्मि) हूं ॥ १८ ॥

भावार्थः— श्रीव्रजचन्द सच्चिदानन्दने जो पहले क्षर और अक्षर दोनों पुरुषोंका वर्णन कर तीसरे पुरुषको इन दोनोंसे उत्तम पुरुष कहा सो उत्तम पुरुष अपने ही को बतलातेहुए कहते हैं, कि [यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः] हे अर्जुन !

क्षर जो नाशमान पदार्थ और अक्षर जो नाशरहित पदार्थ इन दोनों से मैं अतीत हूं अर्थात् न्यारा हूं। तात्पर्य यह है, कि जैसे साधारण पुरुषोंको ये क्षरपदार्थ अपनेमें फँसाकर और अपनी चिकनी चुल-बुली सुहावनी मनकी मोहनेवाली छबि दिखलाकर अपनी ओर खैंचलेते हैं। ऐसे ये मुझे खैंचनेमें समर्थ नहीं हैं। क्योंकि जो प्राणी काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकारे इत्यादि विकारोंके वशीभूत होनेके कारण मूढ हैं वे ही इन पदार्थोंसे आकर्षित हो इनसे बद्ध रहते हैं। क्योंकि इन जड चेतनकी परस्पर ग्रन्थि पडजानेसे इन दोनोंका विलग होना दुर्लभ है सो हे पार्थ! मैं इस प्रकार इनसे ग्रसित नहीं हूं। इसलिये [अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः] लोक और वेद दोनोंमें मैं पुरुषोत्तम नामसे विख्यात हूं अर्थात् इस सृष्टिमें जितने लौकिक कवि हैं वे सर्व अपने-अपने ग्रन्थोंमें मुझे पुरुषोत्तम कहकर पुकारते हैं और वेदोंमें भी मैं पुरुषोत्तम ही कहकर पुकारा जाता हूं।

भगवान् अपनी उत्तमताको पहले भी कहआये हैं, कि "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्" ब्रह्मकी प्रतिष्ठाका-स्वरूप मैं ही हूं। जैसे सब किरणें सिमटकर एक ठौर सूर्यमण्डलमें निवास करती हैं ऐसे ही ब्रह्मत्वकी सारी शक्तियां सिमटकर एक ठौर मुझमें निवास करती हैं अर्थात् मैं साक्षात् परब्रह्मकी प्रतिमारूप ही हूं।

उक्त वचनसे भी भगवानका पुरुषोत्तम होना सिद्ध है।

कविकुलकुमुदकलाधर कालिदासने भी रघुवंशमें लिखा है, कि "हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतो महेश्वरस्त्र्यम्बक एव नापरः"

दिलीपके यज्ञका अश्व रघुकी रखवालीसे चुराकर जिस समय इन्द्र लेगया है और रघुने फिर उससे लौटानेकी चेष्टा की है उस समय इन्द्रने रघुसे कहा है, कि हे राजकुमार ! जैसे केवल एक हरि ही पुरुषोत्तमके नामसे पुकारे जाते हैं और एक महादेव ही महेश्वरके नामसे पुकारे जाते हैं ऐसे केवल एक मैं ही शतक्रतुके नामसे विख्यात हूं।

ऐसे-ऐसे अनेक ग्रन्थोंमें पुरुषोत्तम शब्द केवल श्यामसुन्दर कृष्णचन्द्रके ही प्रति विख्यात है फिर वेदोंमें भी पुरुषोत्तम ही करके इनकी प्रसिद्धि है। प्रमाण श्रुतिः— " ॐ अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन् प्रतिष्ठिताः। तं वेद्यं पुरुषं वेद " तथा "तान् होवाचैतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद नातः परमस्तीति " (प्रश्नो० प्रश्न० ६ श्रु० ६, ७)

अर्थ— जैसे सारा रथ केवल धुरी हीके आश्रय चलता है ऐसे यह सारा ब्रह्माण्डरूप रथ अथवा प्राणरूप रथ उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके समय जिस पुरुषके आश्रय है उसी जानने योग्य पुरुषको जानो।

पिप्पलाद मुनि अपने शिष्योंसे कहते हैं, कि हे शिष्यो ! मैं तो उसी पुरुषको परब्रह्म जानता हूं क्योंकि उससे (परम्) दूसरा कोई नहीं है इसी कारण मैं उसे परमपुरुषके नामसे पुकारता हूं। लो और सुनो!

प्रमाण श्रुतिः— " ॐ मुनयो ह वै ब्राह्मणमूचुः कः परमो देवः कुतो मृत्युर्बिभेति कस्य विज्ञानेनाखिलं विज्ञातं भवति केनेदं

विश्वं संसरतीति तदुहोवाच ब्राह्मणः कृष्णो वै परमं दैवतं गोविन्दान्मृत्युर्बिभेति गोपीजनवल्लभज्ञानेनैतद्विज्ञात भवति स्वाहेदं संसरतीति ॥ " (गोपालपूर्वता० उप० श्रु० १)

अर्थ— मुनियोंने स्वायम्भुव मनुसे पूछा, कि कौन परम देव है ? किससे मृत्यु डरती है ? किसके जाननेसे सब कुछ जाना जासकता है ? और किसकी शक्तिसे सारा विश्व चलरहा है ? इतना सुन स्वायम्भुव मनुने उत्तर दिया, कि श्रीकृष्ण ही परमदेव हैं और उसी गोविन्द नामसे मृत्यु डरती है गोपीजनवल्लभ जो श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र हैं तिनके जाननेसे प्राणी सर्ववित् वा ब्रह्मवित् होजाता है और स्वाहा जो उसी श्रीकृष्णकी माहेश्वरी माया उसीसे यह विश्व चलता है । इस श्रुतिसे भी भगवान श्रीकृष्णका पुरुषोत्तम होना सिद्ध है ।

यह तो सबोंपर विदित ही है, कि वही जगन्नियन्ता जगदधिपति सबोंके ऊपर है, सबोंसे उत्तम है, सबोंसे श्रेष्ठ है, सबोंका गुरु है, स्वामी है, सबोंका माता, पिता, भ्राता, सखा मित्र इत्यादि जो कुछ है वही है । क्योंकि यह श्रेष्ठता और विशेषता उसी महाप्रभुमें है अतएव वही आदिगुरु सब लौकिक वैदिक ग्रन्थोंमें पुरुषोत्तमके नामसे विख्यात है ।

यहांतक भगवानने अक्षरपुरुष, क्षरपुरुष और परमपुरुष अपनी तीन राशियोंका वर्णन किया और इनमें सबोंसे श्रेष्ठ परमपुरुष अपनेको बतलाया पर इसे यहां ऐसा नहीं समझना चाहिये, कि भगवान् क्षर और अक्षरसे न्यारे हैं । वे तो प्रथम ही इस अध्यायके १५ वें श्लोकमें कहचुके हैं, कि " सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः

स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च " अर्थात् मैं सब जडचेतन पदार्थोंके अन्तर्गत हूं तथा स्मृति, विस्मृति, ज्ञान, अज्ञान सब मुझसे ही हैं। फिर भगवान् अध्याय ६ श्लोक ३० में कहचुके हैं, कि " यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वञ्च मयि पश्यति " जो प्राणी सर्वत्र सर्वभूतमात्रमें मुझको देखता है और सबोंको मुझमें देखता है मैं उससे अदृश्य नहीं होता।

ऐसे २ अनेक वचनोंसे सिद्ध होरहा है, कि भगवान् क्षरपुरुष, अक्षर-पुरुष और परमपुरुष सब रूप हैं, सबमें हैं और सब उनमें हैं। श्रुति द्वारा भी बार २ कथन होचुका है, कि " तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् " तिस सृष्टिकी रचना करके तिसीके समान होकर तिसमें प्रवेश करगया।

इसलिये यहां भगवान्‌के कहनेका मुख्य अभिप्राय यही है, कि इस सृष्टिमें क्षर वा अक्षर जो कुछ पदार्थ हैं सब मेरे अधीन हैं इसी-लिये लोक और वेदमें मैं पुरुषोत्तम करके प्रसिद्ध हूं ॥ १८ ॥

जो प्राणी एवम्प्रकार भगवत्‌को पुरुषोत्तम जानता है वह किस गतिको प्राप्त होता है ? सो भगवान् आगे वर्णन करते हैं—

मू०— यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ! ॥
॥ १९ ॥

पदच्छेदः— [हे] भारत ! (भरतकुलतिलक अर्जुन !) यः, असम्मूढः (मम पुरुषोत्तमत्वे संशयविपर्य्यासादिहीनः) माम् (वासुदेवम्) एवम् (अनेन प्रकारेण) पुरुषोत्तमम्, जानाति (वेत्ति) सः (मद्भक्तः) सर्ववित् (सर्वात्मब्रह्मज्ञानात् सर्वज्ञः) सर्वभावेन (सर्वैः प्रकारैः) माम् (महेश्वरम्) भजति (सेवते) ॥ १९ ॥

पदार्थः--- (भारत!) हे भरतकुलशिरोमणि अर्जुन! (यः) जो प्राणी (असंमूढः) मूढता अर्थात् संशय इत्यादिसे रहित होकर (माम्) मुझहीको (एवम्) निश्चय करके (पुरुषोत्तमम्) पुरुषोत्तम (जानाति) जानता है (सः) वह मेरा भक्त (सर्ववित्) सर्वज्ञ होकर (सर्वभावेन) अनन्य भक्तियोग द्वारा स्वामी, सखा इत्यादि सर्वप्रकारके भावोंसे (माम्) मुझ ही को (भजति) भजता है अर्थात् मेरी शरण हो मेरा ही सेवन करता है ॥ १६ ॥

भावार्थः— भगवान् कहते हैं, कि मुझ पुरुषोत्तमको याथातंथ्य जानने वालेकी क्या गति होती है! सो सुनो, [यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्] जो प्राणी असंमूढ होकर मुझे पुरुषोत्तम समझता है अर्थात् संशय, विपर्यय इत्यादि विकारोंसे रहित शुद्ध अन्तःकरण युक्त है तात्पर्य यह है, कि जिसके मनमें ऐसी शंका कदापि नहीं होती। श्रीकृष्ण मनुष्य हैं परमेश्वर नहीं हैं जैसा, कि श्रीमद्भागवतग्रन्थसे भी सिद्ध होता है कि श्यामसुन्दरका शरीर मानुषी नहीं था। क्योंकि जिस समय भगवान् इस संसारमें प्रकट हो नाना प्रकार लीला करनेके अभिप्रायसे देवकी और वसुदेवका पुत्र होना स्वीकार कर इनके गृहमें अवतरे हैं उस समय वहां मानुषी वार्त्ता कुछ भी नहीं देखनेमें आयी न तो आप गर्भसे प्रकट हुए और न मानुषी बच्चोंके समान रुदन किया वरु आपने तो साक्षात् किशोर अवस्थामें सुन्दरश्रृंगारयुक्त मूर्त्तिसे वसुदेव देवकीके सम्मुख खडे हो यह आज्ञा देदी, कि हे वसुदेव! यदि तुमको कंसका भय है तो मुझे इसी समय अपने कन्धेपर चढाकर यमुना पार गोकुलमें नन्द यशोदाके

घरमें पहुंचा दो और वहां मेरी मायाने स्वयं कन्या रूप होकर अवतार लिया है उसे मेरे बदले यहां लाकर रख दो।

प्रमाण— " तमद्भुतंबालकमम्बुजेक्षणं चतुर्भुजं शंखगदा-र्युदायुधम् । श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं पीताम्बरंसान्द्रपयोद-सौभगम् । महार्हवैदूर्यकिरीटकुण्डलत्विषापरिष्वक्त सहस्रकुन्त-लम् । उद्दामकाञ्च्यंगदकंकणादिभिर्विरोचमानं वसुदेवमैक्षत—"
(श्रीमद्भागवत स्कं० १० अ० ३ श्लो० १०)

अर्थ— जिनके नलिनीके सदृश अत्यन्त सुन्दर नेत्र सुशोभित थे जिनके चारों हाथोंमें शंख, चक्र, गदा और पद्म शोभायमान थे जिनकी छातीमें भृगुलताका चिन्ह और गलेमें कौस्तुभमणि चमक रहा था, जिनके जलभरे श्यामघनके समान सुन्दर शरीरमें पीताम्बर लहलहा रहा था, जिनके लटोंके बीच२ किरीट और कर्णकुण्डलोंमें लगेहुए रत्नोंकी चमक ऐसी छिटक रही थी, कि जैसे श्यामघनके बीच२ दामिनी दमकती हुई देख पडती है और जिनकी कलाइयोंमें पहुंची, और बाहुओंमें बाजूबन्द विचित्र शोभाको पारहे थे ऐसे अद्भुत बालकको वसुदेवने सूतिकागृहके बीच अपने सामने शोभायमान देखा।

इतना ही नहीं, कि वसुदेवने ऐसे बालकको केवल देखा ही वरु नारायणका साक्षात्स्वरूप समझ कर अन्तर्यामी जगत्कर्त्ता पूर्ण परब्रह्म जगदीश्वरकी स्तुति करतेहुए कहनेलगे, कि " विदि-तोऽसि भवान साक्षात पुरुषः प्रकृतेः परः। केवलानुभवानन्द-स्वरूपःसर्वबुद्धिदृक् ॥ एवं भवान बुद्ध्यनुमेयलक्षणैर्ग्राह्यैर्गुणैः

सन्नपि तद्गुणाग्रहः । अनावृतत्वाद्बहिरन्तरं न ते सर्वस्य सर्वात्मन! आत्मवस्तुनः॥ '' (श्रीमद्भागवत स्कन्ध० १० अ० ३ श्लो० १६,१७)

वसुदेवकी स्तुतिसे सिद्ध होगा, कि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र मनुष्य नहीं थे और न गर्भमें प्रवेश किया था। इसलिये सर्वसाधारणके बोध निमित्त इन श्लोकोंका अर्थ करदियाजाता है।

अर्थ— वसुदेवजी ऐसे सुन्दर बालकको जिसकी शोभाका अभी वर्णन कर आये हैं देखतेहुए बोले, कि हे भगवन! तुम साक्षात प्रकृतिसे परे परमपुरुष करके प्रसिद्ध हो और केवल अनुभव करने योग्य आनन्दस्वरूप हो, सब प्राणियोंके हृदयमें रहकर उनकी बुद्धिको देखनेवाले हो अथवा सब प्राणियोंकी कुशाग्रबुद्धिद्वारा दृश्य हो इन नेत्रोंसे नहीं देखे जाते हो, इस प्रकार तुम इन्द्रियोंके साथ तथा उन इन्द्रियोंसे ग्रहण किये जाने योग्य विषयोंके साथ वर्त्तमान रहते हुए भी इन इन्द्रियोंसे ग्रहण कियेजाने योग्य नहीं हो। क्योंकि ऐसा नियम नहीं है, कि किसी वस्तु-तत्त्वमें जितने गुण हैं उन सबोंको एक इन्द्रिय ग्रहण करसके वरु नियम तो ऐसा है, कि जिस इन्द्रियमें जो शक्ति विशेष है वह अपनी शक्ति अनुसार पदार्थोंके उसी गुणको ग्रहण करेगी जो उससे सम्बन्ध रखता है। जैसे रसालका फल नेत्रने देखा तो केवल उस फलके रंग रूपको ग्रहण किया पर उसके रस वा मिठासको ग्रहण नहीं करसका। इसी प्रकार जिह्वाको केवल उस फलके रस और स्वादके ग्रहण करनेकी शक्ति है पर रंग और रूपके

ग्रहण करनेकी शक्ति नहीं। इसी प्रकार हे प्रभो ! तुम विषयोंके साथ वर्त्तमान रहते हो पर इन विषयोंके ज्ञानसे तुम्हारे यथार्थ स्वरूपका ज्ञान नहीं होसकता क्योंकि तुम प्रकृतिसे परे हो। यदि कोई ऐसा कहें, कि तुम देवकीके गर्भमें प्रवेश किये हुए थे तो कहना नहीं बनता क्योंकि जो वस्तु किसी ठौरमें पहलेसे वर्त्तमान नहीं रहती उसीका प्रवेश करना कहा जासकता है और जो पहले ही से वर्त्तमान है उसका प्रवेश नहीं कहा जासकता। जैसे किसी घोंसलेमें पक्षी प्रवेश करते हैं तो यह सिद्ध है, कि वह उस घोंसलेके परिमाणसे छोटे हैं और वहां पहलेसे नहीं हैं इसलिये उनका उस घोंसलेमें प्रवेश कहा जासकता है पर हे भगवन् ! आपके स्वरूपका प्रमाण नहीं है क्योंकि तुम " महतो महीयान् " बडेसे भी बडे हो फिर तुम गर्भमें प्रवेश कैसे करसकते हो ? वरु ऐसा कहना चाहिये कि गर्भ ही तुममें प्रवेश कियेहुआ है।

अब बुद्धिमान् विचार सकते हैं, कि वसुदेव (जिनके घरमें भगवान् प्रकट हुए) वे साक्षात् परब्रह्म जगदीश्वर कहके स्तुति कररहे हैं तो दूसरोंको मनुष्य कहनेका क्या मुंह है ?

आज कलके कालिजोंसे निकलेहुए हमारे नवयुवकवृन्द जिनका मुख देखनेसे ऐसा अनुमान होता है, कि वे साठ सालके बूढे हैं ब्रह्मचर्यके अभावसे जिनकी आंखें एक अंगुल भीतर धँसकर कचकी खारी बनगयी हैं और दोनों गाल धँसकर हाता बंगाल बनगये हैं और जिनको धार्मिक विषयोंका तनक भी बोध नहीं है वे ही झट कहपडते हैं, कि श्रीकृष्णचन्द्र हमारे आपके ऐसे मनुष्य थे। अस्तु !

क्यों न हो जिस भगवत्‌की लीला देखकर ब्रह्मा और इन्द्र ऐसे देवताओंको मोह हुआ तहां इन बिचारे छोटे-छोटे मुखवाले बच्चोंको मोह होजावे तो आश्चर्य ही क्या है ? श्रीकृष्णचन्द्रकी परीक्षानिमित्त उनके बछडोंको ब्रह्मा चुरालेगया और इन्द्रने बृजको वर्षाद्वारा पानीमें बोरदेना चाहा पर आनन्दकन्दने अपने महत्त्वसे नवीन बछडे बना और गोवर्द्धन पर्वतको कानी अँगुलीपर उठा इन दोनों देवताओंके मोहको तोड डाला पश्चात् दोनों लज्जित हो आपके चरणोंपर आ गिरे और क्षमा मांगी। श्रीमद्भागवतके स्कन्ध १० अ० १३ में ब्रह्माका मोह और अध्याय २५ में इन्द्रका मोह तोडागया है। भगवान् पहले कहआये हैं, कि "अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम" (अ० ९ श्लो० ११) अर्थात् मूढ मुझको मानुषी शरीरवाले जानकर मेरा अनादर करते हैं।

इसी कारण श्रीआनन्दकन्द कहरहे हैं, कि "यो मामेवमसंमूढः" जो मोहरहित प्राणी मुझको पुरुषोत्तम जानता है [स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत !] वही सर्वज्ञ सर्वभावसे मुझको भजता है। यहां सर्वभावसे कहनेका अभिप्राय यह है, कि माता, पिता, बन्धु, सखा, गुरु, स्वामी इत्यादि जितने भाव सेवा करनेके और प्रेम करनेके हैं उन सब भावोंसे मुझे मेरा भक्त भजता है।

सर्वभावका यह भी अर्थ है, कि इस ब्रह्माण्डमें ब्रह्मासे लेकर कीट पर्यन्त जितने जड-चेतन हैं सबोंमें आत्मत्वभाव करके जो मुझ ही को देखता है मुझसे अन्य किसी देवता देवीको नहीं देखता है। अथवा इसका अर्थ यों भी करलो, कि ब्रह्मदेव (पितामह) से लेकर जितने देव और देवी हैं जिनकी उपासना प्राणियोंको अनेक कामनाओंकी सिद्धिके निमित्त

करनी पडती है उन सब देव देवियोंका भाव जिसने मुझ ही में रखा है अर्थात जो मुझ ही को विष्णु, रुद्र, दुर्गा, गणेश, सुरेश इत्यादि समझता है उसीको सर्वभावसे मेरा भजन करनेवाला कहना चाहिये।

भगवानका मुख्य अभिप्राय यह है, कि जो मुझ वासुदेवको पुरुषोत्तम करके जानता है वही मुझको सर्वभावसे भजता है तथा मुझको भजते-भजते मेरा स्वरूप ही होजाता है ॥ १९ ॥

भगवानने इस पन्द्रहवें अध्यायमें जिन विषयोंका वर्णन नहीं किया है उन्हींकी स्तुति करतेहुए अब इस अध्यायकी समाप्ति करते हैं --

मू०—इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ! ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत! ॥ २०

पदच्छेदः— [हे] अनघ ! (निष्पाप !) भारत ! (भरतवंशावतंस अर्जुन !) मया (वासुदेवेन) इति (अनेन प्रकारेण) गुह्यतमम् (अतिरहस्यम् । गुह्यादपि गुह्यम्) इदम्, शास्त्रम्, उक्तम् (कथितम) एतत (शास्त्ररहस्यम) बुद्ध्वा (ज्ञात्वा) बुद्धिमान् (ज्ञानवान) स्यात (भवेत्) च (पुनः) कृतकृत्यः (कृतकार्यः । न पुनः कृत्यान्तरं यस्यास्ति सः) [स्यात] ॥ २० ॥

पदार्थः—(अनघ!) हे पापरहित ! (भारत !) भरतवंशभूषण अर्जुन ! (मया) मुझ पुरुषोत्तम द्वारा (इति) इस प्रकार (गुह्यतमम) अत्यन्त गुप्त (इदम) यह (शास्त्रम) गीता शास्त्र (उक्तम्) कहागया है (एतत्) इस शास्त्रके रहस्यको (बुद्ध्वा) जानकर प्राणी (बुद्धिमान) ज्ञानवान् (स्यात्) होजाता है(च) तथा

(कृतकृत्यः) कृतकृत्य अर्थात् धन्य-धन्य भी होजाता है। फिर उसे कुछ करनेको शेष नहीं रहता उसके कर्मकी समाप्ति होजाती है ॥२०॥

भावार्थः— श्रीजगन्मंगलस्वरूप जगतहितकारी यशोदा-अजिरविहारीने जो इस गीताशास्त्रके अठारहों अध्यायोंमें कर्म, उपासना तथा ज्ञानकी वार्त्ता अर्जुनके प्रति विलग २ समझाकर कथन की हैं उन सबोंका संक्षिप्त सारांश इस पन्द्रहवें अध्यायमें कथनकर उनकी स्तुति करतेहुए कहते हैं, कि [**इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ !**] हे पापरहित शुद्धान्तःकरण अर्जुन ! यह जो अत्यन्त गुप्त शास्त्र मेरे द्वारा कथन कियागया यह ऐसा श्रेष्ठ और उपकारक है तथा सर्वसाधारण प्राणियोंको कल्याणदायक है, कि [**एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत !**] हे अर्जुन ! इस गुप्त शास्त्रको श्रवणकर कैसा भी प्राणी क्यों न हो ज्ञानवान् होजाता है और कृतकृत्य होजाता है अर्थात् जो कुछ उसे जानना चाहिये सो जानजाता है और जो कुछ करना चाहिये सो सब समाप्त करडालता है।

यहां जो भगवानने अर्जुनसे यों कहा है, कि हे अर्जुन ! मैंने तुझे गीताका सारांश इस पन्द्रहवें अध्यायमें कथन कर सुनाया जिसके जाननेसे प्राणी ज्ञानी और कृतकृत्य होजाता है उसे संक्षिप्तरूपसे पाठकोंकेलिये पुनः स्मरण करादिया।

प्रथम तो यह जानना चाहिये, कि मनुष्यमात्रको अपने उद्धारके निमित्त क्या २ जानना उचित है ? फिर कौन २ से कर्म करने चाहियें ? तहां पहले मनुष्यको यह जानना चाहिये, कि मैं कौन हूं ? कहांसे आरेहा हूं ? कहां मेरी स्थिति है अर्थात् कहां ठहरा हुआ हूं ? फिर मुझे

कहीं जाना है ? अथवा जहां हूं तहां ही रहना है ? आंख, कान इत्यादि इन्द्रियां तथा मन, बुद्धि इत्यादि अन्तःकरण ये मुझको क्यों दिये गये ? किसने दिये ? किस कार्यके लिये दिये ? जब एवम्प्रकार प्राणियोंके चित्तमें अपने जानने और करनेकी चिन्ता होगी तो सबसे पहले किसी गुरुकी शरण जा इन बातोंका जिज्ञासु होगा ।

तहां भगवान भी इस गीताके अ० ४ श्लो० ३४ में कह आये हैं, कि "तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया" अर्थात् तू गुरुजनोंके समीप जा, उनको साष्टांग प्रणाम कर तथा उनकी सेवा कर और उनसे इस विषयमें प्रश्न इत्यादि करके इसको जानले । यह गूढ तत्व जो भगवानने इस पन्द्रहवें अध्यायमें कथन किया है उसे आचार्यगण भली भांति एक दूसरेके द्वारा पूर्वसे जानते चले आये हैं इसी कारण श्रीआनन्द-कन्दने इस अध्यायमें उन ही विषयोंका संक्षेपसे संकेत किया है तिनके जानने और करनेकी आवश्यकता है अब उनको विलग २ दिखलाते हैं ।

सबसे पहले प्राणीको यह जानना चाहिये, कि मैं कौन हूं ? तिसके जाननेके लिये भगवान्ने संक्षिप्तकरके इस गुप्त तत्वको इस अध्यायमें कहदिया, कि " ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः " यह सनातन जीव मेरा ही अंश है केवल इतना ही संकेत करदेनेसे मनुष्य अवश्य निश्चय करलेगा, कि मैं उसी ब्रह्मका अंश हूं । अंश कैसे हूं ? सो इस श्लोककी टीकामें पूर्णप्रकारे दिखलाया जाचुका है । फिर उसी ब्रह्मसे आया हुआ हूं क्योंकि जब उसने " एकोऽहं बहुस्याम् " वचनको उच्चारण किया तब मैं उसीसे निकल पडा इस कारण मैं जीव हूं ब्रह्मका अंश हूं ब्रह्महीसे आया

हुआ हूं । फिर प्राणीको यह जानना चाहिये, कि मेरी स्थिति कहां है अर्थात् कहां ठहराहुआ हूं ? तो इस विषयको भगवानने इस अध्यायके श्लो॰ १३ में संक्षेपसे जनादिया है, कि " **गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा** " हे अर्जुन ! मैं अपने पराक्रमसे इस पृथ्वीको दृढतापूर्वक धारण कर इसके रहनेवाले सब जड चेतन स्थावर जंगमरूप भूतोंको धारण करता हूं । इस वचनसे सिद्ध होता है, कि इस जीवकी स्थिति भी उसी परब्रह्म जगदीश्वरमें है जो इस सृष्टिरूप वृक्षका मूल है।

अब यह जानना चाहिये, कि हम जीवोंको जहां ठहरे हुए हैं तहां ही रहना है वा कहीं किसी स्थानको जाना भी है ? तिसके विषय भगवानने इस अध्यायके श्लोक ६ में कह दिया, कि "**यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम**" जहां जाकर फिर कभी लौटना नहीं पडता वही मेरा परमधाम है तहां इसके अर्थमें भी भली भांति जनादिया है, कि जिस मायाके कारण यह जीव अपनेको उस ब्रह्मसे विलग समझ रहा है तिस मायाभ्रमके नष्ट होनेसे जब यह प्राणी अपने स्वरूपको पूर्ण रूपसे जानलेता है, कि "अहं ब्रह्मास्मि" तब मानों यह ऐसे स्थानमें पहुंच जाता है, कि जहांसे फिर लौटकर इसे जीव नहीं होना पडता ।

शंका— जब यह उसी ब्रह्मसे आता है और उसीमें स्थित रहता है तब फिर जाना आना कैसा ? यदि जाने आनेसे तात्पर्य ब्रह्मरूप होजाना है और उसीको भगवानने "तद्धाम परमम्मम" कहा है तो पहले जो कहआये हैं, कि "एकोऽहं बहुस्याम्" एक मैं हूं बहुत होजाऊं तोइससे अनुमान होता है, कि फिर दूसरी सृष्टिके आदिमें भगवान् इसी प्रकार संकल्प करे और यह जीव फिर उससे निकल आवे

तब यह वचन, कि " यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते " जहां जाकरे फिरे नहीं लौटते निरर्थक होजावेगा और इन दोनों वचनोंमें विरोध होगा इस शंकाका समाधान समझाकर कहो ।

समाधान— देखो मैं तुम्हें समझाता हूं ध्यान देकरे सुनो इन दोनों वचनोंमें विरोध नहीं है। देखो! किसी घरमें वा आंगनमें अथवा किसी ऐसे स्थानमें जिसकी आकृतिका कुछ प्रमाण है अर्थात् एक गज, दो गज, एक योजन, दो योजन, इत्यादि तहां उस स्थानमें आनेवालोंकी संख्या भी नियमित है और उस स्थानमें प्रवेश करने और निकलनेका एकही द्वार है जानेवाला उसीद्वारसे जावेगा और उसीसे लौटेगा अर्थात् नियमित प्राणीका निकलना और पैठना सिद्ध है इससे तो पुनरावृत्तिकी सिद्धि होती है परन्तु "यत्र गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम" पर जहां न तो स्थानकी सीमा है और न जाने आनेवालोंकी संख्या है अनन्त असंख्य प्रवेश करनेवाले और निकलनेवाले हैं और उनके प्रवेशका द्वार तथा निकलनेका द्वार विलग-विलग दो हैं तब तो ऐसा हो ही नहीं सकता, कि वही नियमित प्राणी प्रवेश किया करे वा निकला करे सो यह वार्त्ता ज्ञानियोंने सर्वशास्त्रों द्वारा सिद्ध करली है, कि उस ब्रह्मसे निकलनेका द्वार उसकी दुर्जया माया है और उसमें प्रवेश करनेका द्वार उसका परमधाम अर्थात् चैतन्यात्मक ज्योति जो साक्षात् ब्रह्मज्ञान है सो ही नियत है ।

तात्पर्य यह है, कि मायाके द्वार होकर जीव इस ब्रह्मसे निकलते हैं और ज्ञानके द्वार होकर उसमें लय होते चले जाते हैं । जैसे गंगाके जलमें गंगोत्तरीसे जो बुद्बुद बनकर आगे निकलते और समुद्रमें

घुसते चले जाते हैं सो यदि वे ही समुद्रवाले बुद्बुद लौटकर गंगोत्तरीमें जावें और बुद्बुद् बनकर गंगामें आवें ऐसा नहीं होसकता। वरु बुद्धिमान विचारेंगे,कि जबसे गंगोत्तरी है तबसे गंगोत्तरीके अथाह जलमें अनन्त बुद्बुदोंके बननेकी शक्ति है। अनगिनत बुद्बुद बनते चले आरहे हैं और समुद्रमें टूटते चलेजारहे हैं न बुद्बुदके बननेकी कहीं गिनती है न समुद्रसे फिरे लौटनेकी आशा है ऐसे विचारकी दृष्टिसे देखनेसे "एकोऽहं बहुस्याम्" और 'यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते' दोनों वचनोंमें तनक भी विरोध नहीं पाया जाता। इसीलिये इस गूढ तत्वको भगवान्ने इस अध्यायमें "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" और "यद्गत्वा निवर्त्तन्ते" कहकर पूर्ण बोध करा दिया। शंका मतकरो!

लो और कौनसी गुप्त बातें भगवान्ने कथन की हैं? सो भी सुनलो——

जो लोग विज्ञानतत्वके जाननेवाले हैं वे तो ऐसा ही समझते हैं, कि मैं ब्रह्मका अंश हूं ब्रह्मसे आया हूं ब्रह्महीमें स्थित हूं और फिर ब्रह्महीमें प्रवेश करेजाऊंगा न किसी दूसरे स्थानसे आना है और न कहीं जाना है पर जिन साधारण प्राणियोंने अपने अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं प्राप्त की है वे भ्रमात्मकबुद्धिसे ऐसा समझते हैं, कि यह संसार उस ब्रह्मसे कोई विलग वस्तु है जहां मेरी स्थिति है अर्थात् मायामय संसारमें मैं ऊबडूब कररहा हूं, जीव हूं, दुःखी हूं, सुखी हूं, राजा हूं, रंक हूं, विद्वान हूं वा मूर्ख हूं नाना प्रकारके कर्मोंमें फँसा हुआ क्लेश पारहा हूं। न जाने मेरा उद्धार कैसे होगा? ऐसे पुरुषके कल्याणनिमित्त भी भगवान्ने प्रथम श्लोकमें संसारको अश्वत्थ वृक्षसे उपमा देकर तिसके काटनेका अर्थात् संसार दुःखसे छूटनेका उपाय

इसी अध्यायके श्लो० ५ में " असंगशस्त्रेण दृढेन छित्वा " कहकरे बतलादिया, कि संपूर्ण विश्वके मयामय पदार्थोंको असंगके शस्त्रसे छेदनकर अर्थात् उनसे संग रहित होकरे वह मार्ग खोजना चाहिये जिधर होकर फिर लौटना नहीं पडता। इतना कहकर भगवान्ने कर्म, उपासना और ज्ञानका संकेत करेदिया।

अभी जो अनेक प्रश्नोंके साथ यह प्रश्न करआये हैं, कि ये आंख, कान इत्यादि इन्द्रियां तथा मन, बुद्धि इत्यादि अन्तःकरण मुझको क्यों दिये गये ? किसने दिये ? किस कार्य्यके लिये दिये ? इसके उत्तरमें यह कहना पडेगा, कि जब इस जीवको भगवान् " ममैवांशः " कहकर अपना अंश बता चुके हैं तो इस जीवको दूसरे शब्दोंमें जीवात्मा कहना पडेगा उसी आत्मा शब्दमें परमके लगानेसे परमात्मा और जीवके लगानेसे जीवात्मा शब्द बनते हैं। यदि परम और जीव शब्दको उठालो तो दोनोंमें आत्मा शब्द रहजावेगा अर्थात् आत्मा जो भग-वान् तिसका अंश यह जीव भी आत्मा है। कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि जब यह आत्मा है तो इसमें ये इन्द्रियां और अन्तःकरण प्रथम से ही वर्त्तमान हैं कहींसे न आये और न किसीने दिये। केवल भेद इतना है, कि जबतक ये इंद्रियां अन्तर्मुख होकेर तुरीयावस्थामें लय रहती हैं तबतक ब्रह्मानन्दको भोगती रहती हैं, जब वहिर्मुख होती हैं तो विष-यानंदको भोगने लगती हैं। क्योंकि ये जीव जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय इन चारों अवस्थाओंमें ब्रह्मके साथ हैं। सो भगवानने इसी अध्याके श्लोक ६ में स्पष्टकर कह दिया है, कि "श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च " इससे सिद्ध होता है, कि ये इन्द्रियां इन

आत्माओंमें पहलेसे हैं अर्थात् जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय अवस्थाओंमें किसी अवस्थाके अन्तर्गत तो विषयोंको भोगती हैं और किसी अवस्थामें मुक्त होकर परमानन्दको भोगती हैं अर्थात् बन्ध और मोक्ष इन्हींके द्वारा होता रहता है। इसीलिये वे इस आत्मामें सदासे स्थित हैं। तिनका वर्णन यहां सर्वसाधारणके कल्याणनिमित्त करदियाजाता है। प्रमाण श्रु०— "ॐ सर्वं ह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्" (माण्डू० श्रु० २)

अर्थ—यह जो कुछ है सब ब्रह्म ही है यह आत्मा भी ब्रह्म ही है सो आत्मा चार अवस्थावाला है अर्थात् जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय ये ही इसकी चार अवस्थाएँ हैं।

अब इन चारोंका वर्णन विलग २ करदिया जाता है प्रमाण श्रु०— "ॐ जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्तांगः एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः" (माण्डू० श्रु० ३)

अर्थ— जागरतस्थान अर्थात् जाग्रत अवस्था वह है जिस समय प्रज्ञा (वस्तु-तत्त्वको ग्रहण करनेवाली बुद्धि) बाहरकी ओर रहती है और बाहरकी स्थूल वस्तुओंको ग्रहण करती है इसके सात अंग हैं और १९ मुख हैं स्थूल वस्तुओंको भोगनेवाली है इसीको वैश्वानर भी कहते हैं। यही इस आत्माका प्रथम पाद अर्थात पहली अवस्था है।

अब जानना चाहिये, कि वे सात अंग कौन हैं ? तहां कहते हैं, कि स्वर्गलोक जिसका मस्तक है, सूर्य्य जिसका नेत्र है, चन्द्रमा जिसका मन है, वायु जिसका प्राण है, समुद्र जिसकी गंभीर नाभि है, पृथ्वी जिसकी कटि है और पाताल जिसका पैर है। जाग्रत

अवस्थामें इन सब वस्तुओंका अनुभव प्रत्यक्ष होता है इसलिये इसे सप्तांग कहते हैं।

अब कहते हैं, कि " एकोनविंशतिमुखः " अर्थात् उन्नीस जिसके मुख हैं। पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय, चार अन्तःकरण और पांचों प्राण (प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान) ये ही इसके मुख हैं जिनसे यह बाहरकी स्थूल वस्तुओंका भोजन करता है अर्थात् ग्रहण करता है इसीलिये इसको 'स्थूलभुक्' कहते है।

अब इसकी दूसरी अवस्थाका वर्णन सुनो प्रमाण श्रुतिः—

" ॐ स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्तांग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्त-भुक् तैजसो द्वितीयः पादः " (माण्डू० श्रु० ४)

अर्थ— स्वप्नस्थान अर्थात् स्वप्नकी अवस्था वह है जिस समय प्राणीकी प्रज्ञा (वस्तु-तत्तुकी ग्रहण करनेवाली बुद्धि) शरीरके भीतरकी ओर रहती है यह भी सप्तांग है और १९ मुखवाला है। क्योंकि इस अवस्थामें भी इसी संसारके समान दूसरा संसार देखता है। इसी लिये यह भी सप्तांग है अर्थात् सात अंग वाला है और १९ मुखवाला है केवल जाग्रतमें और इसमें इतना ही अन्तर है, कि जाग्रतमें स्थूल इन्द्रियों द्वारा स्थूल वस्तुओंका ग्रहण करता है और स्थूलभुक् कहलाता है पर स्वप्नमें उन्हीं इन्द्रियोंकी सूक्ष्मशक्तिद्वारा (प्रविविक्तभुक्) सूक्ष्म संस्कारोंका भोगनेवाला है यही इसका द्वितीय पाद है।

तात्पर्य यह है, कि जैसे आलोक्ययंत्र (Photograph) के काच (Lens) द्वारा बाहरके सब स्थूल पदार्थ सूक्ष्म होकर एक छोटे

पत्रपर खिंचजाते हैं अर्थात् कलकत्ता, देहली, फ्रांस, जर्मन, जापान इत्यादि नगरोंको देखनेवालोंने जिस प्रकार जागृत अवस्थामें देखा था उसी प्रकार ठीक-ठीक स्वप्नमें भी देखते हैं तात्पर्य यह है कि स्वप्नमें भी आकाश, सूर्य, चन्द्र, समुद्र, पृथ्वी इत्यादिको ज्योंके त्यों देखते हैं। हाथ, पांव, आंख, नाक, कान, जिह्वा इत्यादि इन्द्रियोंसे सूक्ष्म वस्तु-तस्तुओंको पकडते हैं, देखते हैं, सूक्ष्म गंधोंको सूंघते हैं, सूक्ष्म वचनोंको सुनते हैं और सूक्ष्म अन्नोंका स्वाद लेते हैं अर्थात् सारी क्रीडा जैसी जागृतमें करते थे वैसी स्वप्नमें भी करते हैं।

इसका कारण केवल आत्माकी अत्यन्त स्वच्छता और सूक्ष्मता है। जैसे फोटोग्राफरके प्लेटपर संपूर्ण विश्वके पदार्थ सिमटकर छोटी-छोटी लकीरों और बिन्दुओंमें बनजाते हैं इसी प्रकार संपूर्ण विश्वके पदार्थ जो पहले नेत्रोंके (lens) होकर अन्तःकरणके (plate) पर खिंचेहुए रहते हैं उनहीको स्वप्नावस्थामें प्राणी वैसा ही विशाल देखता है जैसा, कि जागृतमें देखता था अर्थात् आलोक्ययंत्रके काचकी स्वच्छता अंगीकार कर बाहरके पदार्थोंको खींचलेता है फिर वृंहणयंत्र (Magnifier) के काचकी स्वच्छताको स्वीकार कर जागृतके समान देखने लग-जाता है। जैसे छोटे-छोटे बच्चे नगरोंमें तमाशा दिखानेवालेके बक्सके भीतर कलकत्ता इत्यादि नगरोंकी छोटी-छोटी मूर्तियोंको काच द्वारा ज्योंका त्यों देखते हैं। इससे सिद्ध होता है, कि जैसे प्लेट पर छोटे २ संस्कारोंके खिंचजानेका कारण काच (Lens) की अत्यन्त स्वच्छता है और फिर उनको बडा देखनेका कारण वृंहण यंत्र (Magnifier) की स्वच्छता है इसी प्रकार स्वप्न और जागृत

का कारण आत्माकी अत्यन्त स्वच्छता है जो उक्त यंत्रोंके काचसे भी करोड गुणा अधिक स्वच्छ कहाजाता है ।

इन उदाहरणोंसे सिद्ध होता है, कि इन्द्रियोंकी ये विचित्र शक्तियां आत्मा ही में हैं कहीं दूसरे स्थानसे नहीं आतीं ।

अब तीसरी अवस्था सुषुप्तिका वृत्तान्त सुनो ! प्रमाण श्रुतिः—

" ॐ यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम् । सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानंदमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः " (माण्डूक्य० श्रु० ५)

अर्थ— सोजानेपर जब यह प्राणी न कोई कामना करता है और न कुछ स्वप्न देखता है वही सुषुप्ति है । तिस सुषुप्तिमें सब इन्द्रियां एकीभूत होजाती हैं, प्रज्ञा सिमटकर घन होजाती है तथा आत्मा आनन्दमय और आनन्दका भोगनेवाला होजाता है और चेतनाशक्तिके मुख पर रहजाता है जैसे किसी मकानके द्वारपर दोहरे किवाड लगे हैं और तहां एक दीपक जलरहा है तो दोनों ओरके कपाटोंको बन्द करदेनेसे न बाहर प्रकाश होगा और न भीतर प्रकाश होगा इसी प्रकार सुषुप्ति अवस्थामें प्रज्ञा चेतोमुख होकर न बाहर प्रकाश करती है और न भीतर प्रकाश करती है अर्थात् न जाग्रतमें क्रीडा करती है और न स्वप्नमें क्रीडा करती है शांत होजाती है और उस समयमें प्राज्ञ कहलाती है यही इसका तीसरा पाद है ।

यदि शंका हो, कि जो इसके १६ मुख अर्थात् १६ शक्तियां जाग्रत और स्वप्नमें विलग-विलग काम कररही थीं वे सब क्या

होगयीं तो इसीके उत्तरमें श्रुति कहती है, कि वे सब एकीमुख और प्रज्ञानघन होगयीं अर्थात् सब सिमटकर आत्मामें एक ठौर स्थिर होगयीं और बुद्धि घन होगयी तात्पर्य यह है, कि जैसे " अहितुण्डिक " (मदारी) नाना प्रकारका खेल करताहुआ हाथमें एक सुपारी लेकर तमाशा देखने वालोंको यों दिखलाता है, कि देखो मैं एक सुपारीसे १६ सुपारियां निकाल देता हूं फिर वह अपने हाथोंकी कलासे एक सुपारीसे १६ सुपारियां निकालकर यों कहताहुआ, कि आओ १, आओ २, आओ ३, आओ ४ आओ एवम्प्रकार एक ही से उन्नीसोंको निकालकर विलग२ दिखलादेता है और फिर यों कहकर जा १, जा २, जा ३, उन उन्नीसोंको एक ही सुपारीमें लय करदेता है फिर एककी एक सुपारी रहजाती है। इसी प्रकार ये उन्नीसों शक्तियां जाग्रत और स्वप्न अवस्थामें एक आत्मारूप सुपारीसे निकल आती हैं और फिर सुषुप्तिमें सब सिमटकरे एक होकर आत्मामें लय होजाती हैं अर्थात् आत्माका आत्मा रहजाता है। यही एक आश्चर्य इस आत्मामें है इसलिये इस आत्माको भगवान्ने आश्चर्यमय कहतेहुए कहा है, कि " आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः " (अ० २ श्लो० २९) इसीलिये इस श्रुतिमें प्रज्ञानघन शब्दका भी प्रयोग किया। जैसे प्रकाशके सिमटते समय अर्थात् सायंकालमें अन्धकार फैलते समय दूरके सब वृक्ष घन होजाते हैं अर्थात् एक रंग होजाते हैं उनमें पीपल, पाकर, आम, लीची, जामुन इत्यादि वृक्षोंका भेद नहीं देखपडता ऐसे ही सुषुप्तिमें प्रज्ञा घन होजाती है आत्मा आनन्दमय और आनन्दभुक् होजाता है।

शंका— यदि सुषुप्ति अवस्था बीतते समय प्राणी आनन्दमय और आनन्दका भोगनेवाला होजाता है तो इसे कर्म, उपासना, ज्ञान इत्यादि अनेक यत्न करनेकी क्या आवश्यकता है ? मथुराके चौवेजी के समान एक पावभरके भंगका गोला संध्याकालमें चढालिया और रात्रिभरे सुषुप्तिमें आनन्दमय और आनन्दके भोगनेवाले होरहे ।

समाधान— इसमें तो सन्देह ही नहीं हैं, कि जागृत और स्वप्नमें जो नाना प्रकारके दुःख सुख होरहें थे सुषुप्तिमें उन सबोंका अभाव होगया और आत्मा निर्द्वन्द्व होकर शान्त और आनन्दमय होगया पर कठिनता तो यह रही, कि इस अवस्थामें अविद्या व्यापती रहती है इसलिये इसका आनन्द इसको स्वयं बोध नहीं होता जैसे तुमको जर्मन बादशाहके कोशमेंसे १८००००००० द्रव्य पुरष्कार में मिलजावे और उससे तुम्हारे नामपर हिन्दुस्थानसे लंका जानेके लिये समुद्रमें सेतु (पुल) बनादिया जावे और तुम्हें उसकी सुधि पत्रद्वारा वा अन्य प्रकारसे न दीजावे तो तुमको उस द्रव्यके मिलने और पुल बननेके आनन्दका कुछ भी बोध नहीं होगा । इसी प्रकार इस सुषुप्ति अवस्थामें अविद्या व्यापती है । वरु श्रुतियोंने तो यों कहा है, कि जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंमें अविद्या व्यापती है इसी अविद्याके कारण यथार्थ ब्रह्मानन्दका बोध नहीं होता इस आनन्दका कब बोध होता है ? सो सुनो शंका मत करो ।

अब चौथी अवस्था जिसे तुरीय अवस्था कहते हैं वही यथार्थ आनन्दका स्वरूप है । तहां प्रमाण श्रु०— " ॐ नान्तःप्रज्ञं न वहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यम-

ग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः" (माण्डू० श्रु० ७) अर्थ— जिस समय प्रज्ञा (बुद्धि) न भीतरकी ओर हो और न बाहरकी ओर हो अर्थात् न स्वप्न हो न जागृत हो न उभयतःप्रज्ञ हो अर्थात् कुछ स्वप्न और कुछ जागरित दोनों मिली-हुई अवस्था भी न हो और न 'प्रज्ञानघन' सुषुप्ति (घोर निद्रा) हो, प्रज्ञ भी न हो अर्थात् जागृत भी न हो और 'अप्रज्ञ' (एकबारगी जडके समान बोध रहित) भी न हो 'अदृष्ट' अर्थात् नेत्रोंका विषय न हो 'अग्राह्य' हो अर्थात् हाथ, पांव इत्यादि किसी भी इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने योग्य भी न हो। फिर 'अलक्षणम्' अर्थात् अनुमानके भीतर भी नहीं आसकता हो 'अचिन्त्यम्' चिन्ताकरने योग्य भी न हो अर्थात् अन्तःकरण भी जिसको नहीं स्पर्श करसकता हो 'अव्यपदेश्यम्' उपदेश करने अर्थात् कहने योग्य भी न हो पर 'एकात्म प्रत्यसारम्' हो अर्थात् जागृतादि तीनों अवस्थाओंकी एकता होजानेपर जो आत्मज्ञानका सार-भाग परमानन्दस्वरूप है सो ही हो फिर 'प्रपंचोपशम' हो अर्थात् जिस अवस्थामें प्रपंचका नाश होजावे फिर कैसा हो, कि 'शिवम्' परम कल्याणमय हो 'अद्वैतम्' जिसके समान कोई दूसरा न हो। ऐसी अवस्थाको 'चतुर्थं मन्यन्ते' चौथी अवस्था अर्थात् तुरीया मानते हैं वही शुद्ध निर्मल आत्मा है और 'विज्ञेय' है अर्थात् जानने योग्य है। इसलिये पूर्वमें जो प्रश्न हुआ था, कि ये इन्द्रियां और अन्तःकरण क्यों दिये? किसने दिये? किस कार्य्यके लिये दिये? इन तीनों प्रश्नोंका उत्तर यहां पूर्णरूपसे समाप्त करदिया गया।

अब भगवान् इस अध्यायके श्लो० ८ " शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः' से श्लो० ११ " नैनं पश्यन्त्यचेतसः " तक पुनर्जन्मके सिद्धान्तको भी दिखला चुके पश्चात् १२ वें श्लोकसे पन्द्रहवें श्लोक तक अपनी सर्वप्रकारकी व्यापकता भी दिखलादी फिर १६ वेंसे १९ वें तक जीव, ब्रह्म और प्रकृति तीनोंको क्षरपुरुष, अक्षरपुरुष और परमपुरुष कहकर अपने स्वरूपको पुरुषोत्तम बताकर सब विषयोंसे और संसृतिबखेड़ोंसे निवृत्ति प्राप्त कर अहर्निश अपनी सेवा पूजामें मग्न रहनेकी मानों आज्ञा देकर जीवोंको सुखी कर दिया । ॥ २० ॥

सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम् ,
द्विभुजं ज्ञानमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम् ।
गोपगोपांगनावीतं सुरद्रुमलताश्रितम्,
दिव्यालंकरणोपेतं रत्नपंकजमध्यगम् ॥
कालिन्दीजलकल्लोलासंगिमारुतसेवितम् ।
चिन्तयंश्चेतसा कृष्णं मुक्तो भवति संसृतेः ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्येण श्रीस्वामिहंसस्वरूपेण विरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतायां हंसनादिन्याख्यटीकायां पुराणपुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ।

॥ महाभारते भीष्मपर्वणि तु एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

इति पञ्चदशोऽध्यायः ।

शुद्धाशुद्धपत्रम् ।

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
३१६३	१६	त्वा	त्त्वा
३१६३	२०	रह्तिया	रहिततया
३१६४	२	त्तःम्	यम्
३१३४	७	का	की
३१८८	८	इन	इनमें
३२२६	१५	त्क्रामन्त्या	त्क्रान्त्वा
३२५६	७	दी	दिया
३२६१	६	आंख	आंखें
३२६४	४	मानम्	वन्तम्
३२७०	४	र्यु	यु
३२७१	२	न	न्न

शुद्धाशुद्धपत्रम् ।

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
अर्जुनके	अर्जुनके	३५३४	७
नु	तु	३५६६	११
वैराग्यके	वैराग्यके	३५९२	२०
चतुर्थे	चतुर्थ	३५९३	१
उपपाद्य	उपपाद्य	३६१७	१
राजस	राजस	३६४५	७
तर्पणा	र्पणा	३६७७	४
अनोन्य	अन्योन्य	३६८१	४
संग	संग	३६८१	९
दिखलतेहुए	दिखलातेहुए	३६८२	६
गुणात्मक	गुणात्मक	३६९२	११
मुग्ध	मुग्ध	३६९७	६
क्षत्रियके	क्षत्रियकेलिये,	३७०४	२०
तेजप्रभृ०	तेजःप्रभृतीनि,	३७०६	६
वर्णानाम्मिति	वर्णानामिति	३७०७	१८
ब्रह्मण	ब्राह्मण	३७०८	१२
कर्णादौ	करणादौ	३७१८	१७
परमपद्	परमपदकी	३७१४	७
परधर्मात्	परधर्मात्	३७२४	८
जागृवासः	जागृवांसः	३७६६	१
र्त्यथ	ऽत्यर्थ	३७७६	१४
सवर्कर्माणि	सर्वकर्माणि	३७७८	२०
मच्चिता	मच्चित्ता	३७७९	१३
मच्चितः	मच्चित्तः	३७८०	१
विवेका	विवेक	३७८१	१
सी र्मे	सीधमें	” ८८	११
दुखसुःख	दुःखसुख	” ९०	७
मू र्छा	मूर्छा	” ”	११
कारजाता	करजाता	” ९१	१३
चित्तवो	चित्तको	” ९३	११

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
कुंजी	कुंजी	३७९४	११
रतर्जुन	अर्जुन	३८०५	१९
अ	तर	” ६	४
मतीज्ञां	मतिज्ञां	” ७	१०
वालेन धशि	बाले नवशि	” १२	३
योगिन्	योगिन	३८२०	१०
त्व	म्त्व	”	११
भागवत्	भागवत	”	१३
कस्मिन्चयि	कस्मिन्नपि	” २७	९
इन्हासे	इन्हीसे	”	१०
नन्दके	नन्दकी	”	१४
यरय	यस्य	”	२१
गुरा	गुरौ	”	”
बूझकर	बूझकर	”	३
विद्वान्के	विद्वानोंके	”	११
Breesd	Breeds	”	१६
३८१५	३८३५		
तों	तो	३८३५	४
मद्भक्तेष्वभि	मद्भक्तेष्वभि	” ३८	१७
श्रेष्टेन । ज्ञान	श्रेष्ठेन ज्ञान	” ४४	१८
पुण्यर्कमणाम्	पुण्यकर्मणाम्	” ४४	१८
तच्छ्द	तच्छ्रद्द	” ४६	१
पुष्पित	पुष्पित	” ”	१४
संमोहः	सम्मोहः	” ४७	९
दिव्यवक्षु	दिव्यचक्षु	” ५१	१६
संजस्य.	संजयस्य	” ५१	१२
हर्ष	हर्ष	” ”	१४
राज्यलक्ष्म्याः	राजलक्ष्म्याः	” ”	२०
सजय	संजय	” ”	१६
क.ने	करने	” ५७	४

पुस्तक मिलनेका पता

मैनेजर—त्रिकुटीमहल चन्दवारा
मुजफ्फरपुर (विहार)

Manager—Trikutimahal Chandwara
Muzaffarpur (Bihar)

तथा

मैनेजर—श्रीहंसाश्रम—
अलवर (राजपूताना)

Manager—Shri Hans Ashram
Alwar [Rajputana]